रस-सिद्धान्त की दार्शनिक श्रौर नैतिक व्याख्या

रस-सिद्धान्त की दार्शनिक
और
नैतिक व्याख्या

[दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्राक्कथन

रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है। और इसीलिए इसके अध्ययन-विवेचन-मूल्यांकन का इतना महत्व है। किन्तु हिन्दी में 'रस-सिद्धान्त की दार्शनिक एवं नैतिक व्याख्या' का प्रयास अभी तक नहीं के बराबर ही हुआ है। प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में इसी दिशा की ओर एक विनम्र प्रयास किया गया है। रस-सम्बंधी विविध मतों की विस्तृत व्याख्या एवं विवेचन के आधार पर ही उनकी दार्शनिक रुचियों एवं नैतिक मूल्यों के प्रकाशन का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में संस्कृत के काव्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दी एवं अंग्रेजी के दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं सौंदर्य शास्त्र के ग्रंथों से सहायता ली गई है। प्राचीन आचार्यों के तो हम ऋणी हैं ही, मैं अन्य विद्वान् समीक्षकों का भी कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रंथों से मैंने सहायता ली है। डा० प्रेमस्वरूप गुप्ता ने अपना शोध-प्रबंध 'रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' टंकित रूप में ही मुझे सहायतार्थ दिया। मैं उनका भी आभारी हूँ।

अन्त में यह निवेदन करना मेरा परम कर्त्तव्य है कि मैं काव्यशास्त्र के विख्यात विद्वान् आदरणीय डाक्टर नगेन्द्र के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में प्रस्तुत शोध-कार्य संपन्न हुआ है।

किरोड़ीमल कालेज,
दिल्ली

—तारकनाथ बाली

विषय-सूची

—: ० :—

प्रथम अध्याय

काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध

मनुष्य की ज्ञान-साधना मूल रूप में सम्बद्ध एवं अखंड है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो दूसरे विषय से थोड़ा-बहुत सम्बद्ध न हो। ज्ञान-पिपासा की शान्ति एवं मानव कल्याण की साधना के स्तरों पर तो सभी विषय एक साथ मिलकर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। सुतरां भिन्न प्रतीत होते हुए विषय भी मानव कल्याण की भावना के सूत्र से अनुस्यूत हैं।

ज्ञान-क्षेत्र के विभिन्न विषयों में जो पारस्परिक अन्तर है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त मूलभूत समानता के होते हुए भी यह अन्तर बहुत स्पष्ट और वास्तविक है।

विभिन्न विषयों में जो पारस्परिक अन्तर है उसके तीन कारण होते हैं :—

१—विवेच्य वस्तु का अन्तर,

२—विवेचन-दृष्टि का अन्तर, और

३—विवेचन-पद्धति का अन्तर।

यह तो हुई विवेचनात्मक विषयों या शास्त्रों के अन्तर की बात।

कलाओं में मानव की सृजनात्मिका साधना की अभिव्यक्ति होती है। कला के विविध रूपों में जो अन्तर लक्षित होता है उसके भी ऐसे ही तीन कारण हैं :

१—कला-सामग्री का अन्तर,

२—कलाकार की दृष्टि का अन्तर,

३—सृजन-प्रक्रिया का अन्तर।

इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शास्त्र-साधना

और कला साधना परस्पर स्वतन्त्र और असंबद्ध नहीं हैं। इन दोनों साधनाओं में भी परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। एक ओर कला शास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण करती है, दूसरी ओर शास्त्र भी कला का सहारा लेकर अपने विस्तार का प्रयास किया करता है। कला का प्रधान आधार लेकर एक शास्त्र उठ खड़ा हुआ है जिसे कलाशास्त्र कहा जाता है। यही कारण है कि कला-शास्त्र जहाँ एक ओर कला को आधार मानकर चलता है, वहाँ दूसरी ओर शास्त्र से भी सम्बद्ध है।

काव्यशास्त्र का स्वरूप

काव्यशास्त्र कलाशास्त्र या पारभाषिक शब्दावली में सौन्दर्य शास्त्र का वह रूप है जो केवल काव्य को ही विवेच्य मानकर चलता है। काव्यशास्त्र का मूल प्रयोजन काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण है। और अपने इस मूल प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह अन्य शास्त्रों से बहुत कुछ ग्रहण करता है।

प्रस्तुत निबन्ध में हमें दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र के साथ काव्यशास्त्र के सम्बन्ध का विवेचन करना है।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, विवेच्य वस्तु का शास्त्र पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। अतएव इन शास्त्रों के स्वरूप को समझने के लिए इनके विवेच्य पर विचार करना होगा। इससे इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश पड़ सकेगा।

काव्यशास्त्र का विवेच्य है—काव्य या साहित्य। साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या है। साहित्य की यह परिभाषा अधिकांश काव्य-शास्त्रियों को स्वीकार्य है। साहित्य में हमें जीवन के विविध चित्र दिखाई देते हैं। और जीवन के ये चित्र मनुष्य के भावों के रंगों से रंगीन होते हैं। उनमें विचारों की छाया भी होती है। लेकिन भारत की प्राचीन आलोचना-दृष्टि जीवन के भावात्मक पक्ष पर ही केन्द्रित रही।

प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचते-पहुँचते यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाने लगा था कि रस ही साहित्य का मुख्य तत्त्व है। और इस रस का आधार है स्थायीभाव, जो कि जीवन के सामान्य भाव, प्रेमादि का शास्त्रीय नाम है।

जीवन की यह भावात्मक व्याख्या—साहित्य—ही काव्य-शास्त्र का विवेच्य है। किन्तु शास्त्र होने के नाते काव्यशास्त्र की दृष्टि भावात्मक न होकर तार्किक होती है। वह तर्क को आधार बनाकर साहित्य के विविध पक्षों का विवेचन कर उनके स्वरूप का प्रकाशन-करता है और उनके सम्बन्ध में नियम निर्धारण

करता है। अतएव काव्यशास्त्र जीवन की भावात्मक व्याख्या—साहित्य—की तर्क-सम्मत व्याख्या है।

काव्यशास्त्र साहित्य के तत्त्वों का विवेचन बौद्धिक प्रणाली पर करता है। उदाहरण के लिए साहित्य का एक तत्त्व है भाव। साहित्य के अध्ययन से एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। इसे हम साहित्यिक आनन्द कह सकते हैं। काव्यशास्त्र इस साहित्यिक आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसकी मीमांसा करता हुआ उसकी निष्पत्ति, स्वरूप, अवयवों, दोषों आदि पर विचार करता है। इसी प्रयास के फलस्वरूप भारतीय साहित्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसका सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। यहाँ मूल विवेच्य साहित्यिक आनन्द या रस है। उस पर भिन्न आचार्यों ने भिन्न दृष्टियों से विचार किया जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारे सामने आज रस-सिद्धान्त की विविध व्याख्याएँ उपस्थित हैं। विभिन्न आचार्यों ने ये दृष्टियाँ दर्शनशास्त्र से ग्रहण कीं। काव्यशास्त्र जीवन से सम्वद्ध है मगर अप्रत्यक्ष रूप से। उसका विवेच्य—साहित्य—जीवन से सम्वद्ध है और उसका सहयोगी शास्त्र—दर्शन-शास्त्र—जीवन से सम्वद्ध है। अतएव साहित्य एवं दर्शन के माध्यम से काव्यशास्त्र भी जीवन से सम्वद्ध हो जाता है।

दर्शनशास्त्र का स्वरूप और काव्यशास्त्र से सम्बन्ध

दर्शनशास्त्र के स्वरूप में कालान्तर से पर्याप्त अन्तर आया है। 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी विषय जो सत्य का दर्शन कराता हो, सही निष्कर्ष तक पहुँचाता हो, दर्शन कहलाता है—

दृश्यते ऽनेन इति दर्शनम्—इस रूप में दर्शन की सीमाएँ अत्यंत व्यापक हो जाती हैं। अँग्रेजी के 'फिलॉस्फी' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ[1] और भी विस्तृत है। इस अर्थ के अनुसार किसी भी ज्ञान के प्रेमी को दार्शनिक की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु बाद में चलकर इन अर्थों में परिवर्तन होगया।

भारतीय इतिहास में दर्शनशास्त्र उस विषय के लिए रूढ़ हो गया जो संसार के मूल तत्त्व या परम सत्य का साक्षात्कार कराए। अतएव दर्शनशास्त्र का विवेच्य हुआ जीवन का मूलतत्त्व या परम-सत्य। विविध दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से विवध मूल तत्त्वों एवं परम-सत्य की प्रतिष्ठा की। पश्चिम में 'फिलॉस्फी' शब्द का इतिहास और भी रोचक रहा है। मध्यकाल में विश्व-विद्यालयों में जो दर्शन का अध्ययन कराया जाता था उसकी तीन शाखाएँ मानी

1. Philosophy—Gr. Phikin, to love-Sophia, wisdom.
The Dictionary of Philosophy : Ed. Dogobert D. Runes, p. 235.

जाती थीं—प्राकृतिक दर्शन, नैतिक दर्शन, और तात्त्विक दर्शन। इनको दर्शनत्रय थी संज्ञा दी जाती थी। इसीलिए इनमें से किसी भी एक विषय के शोधकर्त्ता को आज भी डाक्टर ऑफ फिलॉस्फी की उपाधि दी जाती है।[1] किन्तु बाद में चलकर प्राकृतिक दर्शन को विज्ञान, और नैतिक दर्शन को नीतिशास्त्र की संज्ञा दी गई और उन्हें शुद्ध दर्शन से पृथक् माना गया।

'दर्शन' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया के अर्थ में और उपलब्ध ज्ञान के अर्थ में।[2] 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति—दृश्यते ऽनेन इति दर्शनम्—में दर्शन को साधन ही कहा गया है। मगर साथ ही उपलब्ध ज्ञान के लिए भी 'दर्शन' शब्द का प्रयोग होता आया है—जैसे वेदान्त दर्शन, न्याय दर्शन आदि, और यह स्वाभाविक भी है। प्रत्येक विषय की अपनी प्रक्रिया-विशेष होती है, और उसका अपना फल भी होता ही है।

प्रक्रिया-विशेष के रूप में दर्शन सबसे अधिक सम्बद्ध और पूर्ण माना जा सकता है। किसी भी अन्य विषय की प्रणाली इतनी सूक्ष्म, सुष्ठु, व्यवस्थित और सम्बद्ध नहीं है जितनी दर्शन की है।[3]

प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करने से दर्शन की सीमाएँ अत्यन्त व्यापक हो जाती हैं। क्योंकि सभी विषय अपनी सफलता एवं निर्दोषता के लिए सही तर्क-प्रणाली की अपेक्षा करते हैं। अतएव स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि से लेकर रसायन-शास्त्र तक सभी विषयों को दर्शन की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। इसीलिए दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान कहा गया है और उसका उद्देश्य समस्त मानव अनुभवों के मूलभूत सत्य का प्रकाशन माना गया है।[4]

---

1. That more advanced knowledge or study, to which, in the mediaeval universities, the seven liberal arts were recognized as introductory : it included the three branches of natural, moral and metaphysical philosophy, commonly called the three philosophies. Hence the degree of Doctor of Philosophy. *Oxford English Dictionry* Vol. VII, p. 781.
2. But philosophy has been both the seeking of wisdom and the wisdom sought.
   —*The Dictionary of Philosophy*, Ed. Dogobert D. Runes
3. Knowledge of the lowest kind is un-unified knowledge, science is partially unified knowledge philosophy is completely unified knowledge. H. Spencer—*First Principles*, p. 115.
4. ....philosophy is that science of all the sciences which takes account of every class of facts within the purview of human experiences with the purpose of discovering the truths that underlie therein.
   —J. A. Mac Williams : *Philosophy for the Millions*, p. 18.

इस रूप में दर्शनशास्त्र एवं काव्यशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट ही है। काव्यशास्त्र की सफलता के लिए दार्शनिक प्रविधि का उपयोग आवश्यक है, और यह एक सर्वविदित तथ्य है कि संस्कृत के काव्यशास्त्र के ग्रंथों और दर्शन-शास्त्र के ग्रंथों की प्रविधि एवं शैली बहुत हद तक मिलती-जुलती है।

दूसरे अर्थ में दर्शन का अभिप्राय वेदान्त आदि ज्ञान की विशिष्ट उपलब्धियों से है। स्पष्टतः दर्शन का प्रथम पक्ष बहुत व्यापक है और यह संकुचित है। दर्शन का उद्देश्य परम सत्य की प्राप्ति है, वह जीवन की शाश्वत समस्याओं का शाश्वत समाधान देने की चेष्टा करता है। इस रूप में कोई भी दो दार्शनिक परस्पर सहमत नहीं हैं। दर्शन उसी से सन्तुष्ट नहीं होता जो स्पष्ट लक्षित होता है। वह ऐन्द्रिय अनुभव को ही सब कुछ नहीं मान बैठता। वह उससे आगे बढ़ता है और बौद्धिक प्रक्रिया को अपना कर प्रत्येक अनुभव को तर्क से व्यव-स्थित कर बौद्धिक स्तर पर ला खड़ा करता है। किन्तु कई दार्शनिक इससे भी सन्तुष्ट न होकर और आगे बढ़ते हैं। वे तर्क को भी अस्वीकार कर स्वयं-प्रकाश ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और इसी के आधार पर परम सत्य की उपलब्धि कर उसके स्वरूप को बुद्धि द्वारा प्रकाशित करने की कोशिश करते हैं। ये तर्क को स्वीकार तो करते हैं, मगर एक सीमा तक ही। इस प्रकार विविध दार्शनिक वादों की प्रतिष्ठा होती है।

साहित्य भी इन विविध दार्शनिक वादों से प्रभावित होता रहता है। साहित्य के साथ-साथ साहित्य-शास्त्र भी इन वादों का सहारा लेता है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने मीमांसा, सांख्य, शैव दर्शन, वेदान्त दर्शन आदि का सहारा लेकर रस की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि कोई दार्शनिक परम सत्य का निरूपण कर लेने के बाद उसी के प्रकाश में साहित्य के मूल्यांकन का भी प्रयास करता है। प्लेटो का उदाहरण लीजिए। दार्शनिक के रूप में उसने यह प्रतिष्ठा की कि दृश्य जीवन वस्तुतः सत्य जीवन की छाया मात्र है। इस दृश्य जीवन को त्याग देने पर ही परम सत्य की उपलब्धि होती है। इसके बाद काव्य का मूल्यांकन करते हुए उसने कहा कि काव्य इस दृश्य संसार का अनुकरण करता है; अतः वह सत्य की छाया की अनुकृति होने के कारण मनुष्य को सत्य से और भी दूर ले जाता है। अतएव काव्य त्याज्य है।

किन्तु शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से साहित्य का ग्राह्य मूल्यांकन नहीं हो सकता। यदि ऐसा सम्भव होता तो साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक भिन्न शास्त्र—काव्य शास्त्र—की अपेक्षा ही नहीं होती। साहित्य और दर्शन के परस्पर के घनिष्ठ सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक जीवन की

भावात्मक व्याख्या है, और दूसरी बौद्धिक। साहित्यकार और दार्शनिक—दोनों का ही केन्द्र जीवन है और उद्देश्य है उसकी व्याख्या। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि किसी भी एक दार्शनिक दृष्टि के आधार पर साहित्य का विवेचन-मूल्यांकन किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि साहित्य तथा दर्शनशास्त्र में जहाँ समानता है वहाँ बड़ा निर्दिष्ट अन्तर भी है। और वह यह कि दर्शन का मूल अस्त्र है तर्क, तथा साहित्य का प्राण है भाव। साहित्य में जो विचार-तत्त्व भी आता है वह प्रायः भाव के आधीन होकर ही। दर्शन की अनुभूति के लिए वासना का अभाव होना चाहिए तथा साहित्य की अनुभूति के लिए उसका होना अनिवार्य है। दर्शन और साहित्य के इस मूलभूत अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेने के उपरान्त सहज ही सिद्ध हो जाता है कि यदि कोई दार्शनिक अपनी विशिष्ट दृष्टि के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करेगा, तो उसे साहित्य के विद्यार्थी स्वीकार नहीं कर सकते। प्लेटो ने जो साहित्य का मूल्यांकन किया है, वह इसी कारण अग्राह्य है। हमारे यहाँ भी शुद्ध दार्शनिकों ने 'काव्यालापाश्च वर्जयेत्' कहकर उसी उपक्रम का परिचय दिया है जिसके दर्शन प्लेटो में होते हैं। हमने उसे भी स्वीकार नहीं किया है। यदि साहित्यिक दृष्टि से दर्शन का मूल्यांकन नहीं हो सकता तो दार्शनिक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन भी असम्भव है।

साहित्य और दर्शन का सम्बन्ध हमारे यहाँ भी रहा और रोम, ग्रीक आदि में भी और यह सम्बन्ध आज तक चला आ रहा है। लेकिन हमारे दर्शन-शास्त्र में तथा पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र में एक महत्वपूर्ण भेद है जिसका इस प्रसंग में उल्लेख करना उपयोगी होगा। पाश्चात्य दर्शन का आधार तर्क ही रहा है। पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए दर्शन यद्यपि जीवन से सम्बद्ध है लेकिन उन्होंने प्रायः दर्शन और जीवन के इस सम्बन्ध को अनुभूति का विषय बनाने की चेष्टा नहीं की। लेकिन भारतीय दर्शन सदैव अनुभूति को साथ लेकर चला। यह स्पष्ट घोषणा की गई कि अनुभूति के बिना केवल ज्ञान से या वाक्य-ज्ञान से किसी का उद्धार नहीं हो सकता। दर्शन का फल तभी मिलता है जब उसका अवसान अनुभूति में हो। इससे हमारे दर्शनशास्त्रियों ने भी अनुभूति को ही परम मूल्य के रूप में माना है। सत्य की अनुभूति परम शिव और परम आनन्द की अनुभूति है। जीवन की महत्तम अनुभूति में इन तीनों गुणों का समन्वय है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार साहित्य का परम लक्ष्य सामाजिक को रसानुभूति में मग्न करना है। यही साहित्य की परम अनुभूति है जो सत्य है, शिव है और आनन्दमय है। इस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्री के सामने—जो कि दर्शन-शास्त्र का भी मर्मज्ञ हुआ करता था—दो

प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता थी। एक दर्शन की साध्य और द्वितीय साहित्य की। उन्होंने इन दोनों अनुभूतियों के पारस्परिक सम्बन्ध की परीक्षा की और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन दोनों अनुभूतियों में—ब्रह्मानुभूति और रसानुभूति में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

रस-सिद्धान्त की विविध व्याख्याओं को समझने के लिए उनके आधारभूत दार्शनिक-वादों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ भी कोई विचारक या काव्य-शास्त्री विवेच्य विषय के स्पष्टीकरण के लिए किसी दार्शनिक दृष्टि को अपनाता है वहाँ वह दृष्टि न केवल विवेचन का आधार ही बनती है वरन् वह विवेच्य वस्तु के स्वरूप को भी पूरी तरह से प्रभावित करती है।[1] यही कारण है कि एक ही तथ्य को विविध दार्शनिक दृष्टियों से देखने पर उसके स्वरूप में पर्याप्त भेद हो जाता है।

दर्शन-शास्त्र प्रक्रिया की निर्दोषता और स्वरूप की व्यवस्था के लिए प्रसिद्ध है। दार्शनिक अपनी हर एक बात को स्पष्ट से स्पष्ट रूप में एवं व्यवस्थित पद्धति से प्रस्तुत करता है। इसलिए काव्य-शस्त्र को व्यवस्थित एवं सफल बनाने के लिए दार्शनिक आधार की अपेक्षा है। इस बात की चर्चा करते हुए ऑस्बोर्न ने लिखा है—

"क्योंकि आलोचना सदैव अपने दर्शन से रहित रही है, जिसके बिना शोध क्रिया अनिवार्यतः निष्फल चलती रहेगी, क्योंकि उसके पास सम्बद्धता

---

1. "Whether or not certainty is thought to be possible in human and natural investigations it is no less true that the nature of things, in so far as it is known, is determined by philosophic principles than that philosophic principles are determined, in so far as they are verified, by the nature of things."
—Richard Mackeon : "The Philosophic Bases of Art and Ciriticism" form the Book *Critics and Criticism.*
Edited R. S. Crane

अनुवाद —"चाहे मानवीय या प्राकृतिक खोजों में निर्दिष्टता संभव हो या नहीं, यह कथन कि वस्तुओं का स्वरूप—जहाँ तक कि वह ज्ञात है—दार्शनिक सिद्धान्तों से नियंत्रित है उतना ही सत्य है जितना यह कि दार्शनिक सिद्धान्त—जहाँ तक कि उनकी पुष्टि की जाती है—वस्तुओं के स्वरूप से नियंत्रित हैं।"

की कोई कसौटी नहीं होगी और न ही असफलता एवं सफलता का भेद करने का कोई मान ही होगा।"[1]

यद्यपि पश्चिम में आलोचना का कोई अपना विशिष्ट दर्शन नहीं रहा, फिर भी वहाँ भी दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र का सम्बन्ध निश्चित रूप से रहा है जैसा कि रिचर्ड मैक्योन के इस कथन से स्पष्ट है :—

"कोई भी सामान्य विवेचन प्रयुक्त दार्शनिक सिद्धान्तों को और सम्बद्ध विषय को तुरन्त ही प्रतिपादित कर देता है, लेकिन उन सब विवेचनों में जिनमें दर्शन व्यक्त होता है—कला की आलोचना, सिद्धान्त की मान्यता; विषय के नियंत्रण और प्रक्रिया के उपयोग से एक विशिष्ट-उत्कृष्ट संतुलित रूप से प्रभावित होती है।"[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र काव्यशास्त्र से द्विविध रूप से संबद्ध है।

प्रथम, प्रत्यक्ष सम्बन्ध है—जैसे कि काव्यशास्त्र में दार्शनिक सूक्ष्म प्रक्रिया और सम्बद्ध विवेचन का सन्निवेश तथा काव्य सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों में आधारभूत दार्शनिक दृष्टियों की सत्ता।

द्वितीय, अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। काव्य का आधार भी जीवन है और दर्शन का भी। अतएव काव्य दर्शन से बहुत कुछ ग्रहण करता है। और इस प्रकार काव्य की सम्यक् मीमांसा का लक्ष्य होने के कारण काव्यशास्त्र भी उन दार्शनिक दृष्टियों की आलोचना करता है जिनका समावेश साहित्यिक रचनाओं में होता है। अतएव जब आलोचना के स्वरूप एवं प्रयोजन पर विचार किया जाता है तो साहित्य और दर्शन के स्वरूप एवं प्रयोजन की चर्चा भी अनिवार्य हो जाती है। इसी आधार पर रिचर्ड मैक्योन ने कहा है :—

---

1. For criticism has ever lacked its own philosophy, without which research must continue always inconclusive, having no touchstone of relevance, nor any criterion of distinguishing failure from success."—Harold Osborne : *Aesthetics and Criticism*, p. 6.
2. "Any general discussion expounds atonce the principles of philosophy which it employs and the subject with which it is concerned, but, if all the discussions in which philosophy finds an application, the criticism of art is influenced in a peculiarly, nice balance by commitment to principle, determination by subject, and the use of method. —Richard Mackeon : "The Philosophic Bases of Art and Criticism."
   From '*Critics and Criticism*' (Ed. Crane,) p. 464.

"आलोचक के प्रयोजन का विवेचन, इसीलिए कवि और दार्शनिक के प्रयोजन का विवेचन है।"[1]

नीतिशास्त्र और काव्यशास्त्र

जिस प्रकार दर्शनशास्त्र और साहित्य अतः साहित्यशास्त्र का जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है उसी प्रकार नीतिशास्त्र का भी जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार दर्शन जीवन की बौद्धिक व्याख्या, और साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या है उसी प्रकार नीतिशास्त्र को जीवन की व्यावहारिक व्याख्या कहा जा सकता है।

नीतिशास्त्र का सीधा सम्बन्ध मानव के दैनिक व्यवहार तथा आचरण के साथ है। मानव-आचरण का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से—समाज शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक आदि से किया जा सकता है। किन्तु नीतिशास्त्र की दृष्टि आचरण के भले या बुरे, शिव अथवा अशिव पक्ष पर ही रहती है। अतएव इस विषय में विद्वान् सहमत हैं कि आचरण में उचित या शिव के अध्ययन को ही नीतिशास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है।[2]

इस परिभाषा में आचरण के शिव अथवा उचित पक्ष की चर्चा की गई है, अशिव या अनुचित की नहीं इसका एक कारण है। और वह यह कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध केवल आदर्श से है, यथार्थ से नहीं। 'मानव आचरण कैसा है।' यह उसके अध्ययन का विषय नहीं है। उसमें तो केवल इस प्रश्न का ही उत्तर देने का प्रयास किया जाता है कि आचरण कैसा होना चाहिए। इसीलिए उसे "आदर्शात्मक विज्ञान" कहा जाता है।

मनोविज्ञान आदि अन्य शास्त्रों से नीतिशास्त्र की भिन्नता बतलाते हुए कहा गया है :—

"लेकिन नीतिशास्त्र की समस्या वस्तुतः भिन्न है। यह उपर्युक्त अध्ययनों से इस बात में भिन्न है कि इसका सम्बन्ध मुख्यतः मात्र तथ्यों से नहीं है वरन् मूल्यों के साथ है, अनुमानों के साथ है। यह बात प्रायः इस कथन द्वारा व्यक्त की जाती है कि नीतिशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान नहीं है वरन् आदर्शात्मक विज्ञान है—मूलतः इसका सम्बन्ध यथार्थ मानव आचरण की

---

1. "To discuss the function of the critic, therefore, is to discuss the function of the poet and the philosopher."
—Richard Mackeon : "The Philosophic Bases of Art and Criticism." Form the Book *Critics and Criticism* (Ed. Crane) p. 491.

2. Ethcis may be defined as the study of what is right or good in conduct.—John S. Mackenzie : *A Manual of Ethics*, p. 1.

विशेषता से न होकर उसके आदर्श के साथ है । मानव-आचरण कैसा है, इसके साथ उसका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना इसके साथ कि वह कैसा होना चाहिए ।"[1]

नीतिशास्त्र के स्वरूप के स्पष्टीकरण के उपरान्त अब दर्शनशास्त्र से उसकी भिन्नता पर सहज ही विचार हो सकता है । दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध वास्तविक सत्य के साथ है, यथार्थ के साथ है । यह संसार जो यथार्थ है, उसका मूल रूप क्या है, यही दर्शनशास्त्र की एकमात्र समस्या है । इसके विपरीत नीतिशास्त्र का सम्बन्ध यथार्थ मानव-आचरण से न होकर उसके आदर्श रूप के साथ है । संसार के मूल में वास्तविक सत्य क्या है, यह समस्या नीतिशास्त्र की परिधि से बाहर है । वह तो केवल मानव-व्यवहार में शिव एवं उचित तत्त्वों के परीक्षण तक ही सीमित है ।

अतएव स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र की मूल समस्या नीतिशास्त्र की सीमा से परे है । लेकिन इस बात में भिन्न होते हुए भी दोनों शास्त्र परस्पर संबद्ध हैं । और वह इस रूप में कि मानव-आचरण दर्शन द्वारा प्रतिपादित मूल सत्य के अनुकूल होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए जो कि मानव को उस मूल सत्य का साक्षात्कार करा सके । किन्तु मूल सत्य क्या है, इस विषय में विविध दार्शनिक परस्पर सहमत नहीं हैं । और यही कारण है कि वे अपने-अपने सत्य के अनुकूल विविध प्रकार की आचरण-पद्धतियों की योजना करते हैं । इसी से नीतिशास्त्र में विविध नैतिक सिद्धान्तों का जन्म होता है । यद्यपि दर्शनशास्त्र नीतिशास्त्र का आधार है, तो भी दोनों की दृष्टियों एवं विवेच्य में अन्तर है । इसीलिए पश्चिम में दोनों की पृथक् सत्ता है ।

किन्तु भारतीय चिन्तन के विकास में दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र–दो भिन्न शास्त्रों के रूप में प्रकट नहीं हुए । इसका कारण यही है कि दोनों परस्पर संबद्ध हैं । प्रत्येक दार्शनिक ने अपनी विवेचन-प्रणाली से मूल सत्य के स्वरूप का उद्घाटन करने के साथ-साथ उस तक पहुँचने के लिए साधना-पद्धति का भी निर्देश किया है । यह साधना-पक्ष पाश्चात्य दृष्टि से नीतिशास्त्र के अध्ययन की सामग्री है ।

---

1. "But the problem of ethics is essentially different. Unlike the above mentioned studies it is not concerned mainly with bare facts but with values, with estimates. This is usually expressed by saying that ethics is not a positive science but a normative science–it is not primarly occupied with the actual character of human conduct but with its ideal, not so much with what human conduct is as with what it ought to be...".
—*Encyclopaedia Britanica*—Vol. 8, p. 757.

भारतीय चिन्तन में 'नीति' शब्द के अर्थ से मिलते-जुलते दो शब्द मिलते हैं—एक धर्म, द्वितीय ऋत। धर्म और ऋत दोनों के अन्तर्गत मानव आचरण का ही अध्ययन किया जाता है। किन्तु धर्म जहाँ एक ओर शिव का विवेचन करता है, वहाँ अशिव का निरूपण भी करता है। और साथ-साथ आचरण के सामाजिक पक्ष का भी—जो कि पाश्चात्य दृष्टि से समाजशास्त्र का विवेच्य है—उल्लेख करता है। धर्म के विषय में कहा गया है—

(धर्म में) धारणा करने की विशेषता है, इसीलिए वह धर्म कहलाता है। धर्म के द्वारा ही प्रजाओं का पालन होता है। यह निश्चित है कि जिसमें धारण करने की सामर्थ्य है वही धर्म है।[1] 'धर्म' शब्द के अनुरूप ऋत की कल्पना भी नीति के आधार पर की गई थी। ऋत 'नीति' शब्द के अर्थ के अधिक निकट है।[2] किन्तु आज नीतिशास्त्र में 'नीति' शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह धर्म या ऋत के द्वारा सम्भव नहीं। क्योंकि धर्म और ऋत दोनों का आधार मूलतः दैवी है, दोनों ही अपौरुषेय हैं। लेकिन नीतिशास्त्र के अध्ययन में मानव-आचरण के आदर्शों की प्रतिष्ठा केवल दैवी शक्ति के द्वारा ही नहीं वरन् केवल अनुभव एवं तर्क के बल पर भी की जा सकती है।

साहित्य और नीतिशास्त्र दोनों का आधार जीवन है और दोनों ही प्रत्यक्ष रूप से मानव-व्यवहार से सम्बद्ध हैं। जब साहित्य जीवन का नियन्त्रण करता है तो उसमें आचरण के शुभ पक्ष को उद्दीप्त कर काम्य रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है। साहित्य और जीवन के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की चर्चा प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने अत्यन्त स्पष्ट और सशक्त शब्दों में की है।

---

१. **धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण वधृताः प्रजाः।**
यः स्याद्धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

—महाभारत (शान्ति पर्व), १०९।११

२. **''विश्व को व्यापने वाले 'ऋत' तत्व को वैदिक ऋषियों ने नीति की कल्पना के बल पर उत्पन्न किया। ऋत तथा अनृत के द्वन्द्व से नीति और अनीति के द्वन्द्व का बोध होता है। वैदिकों के नीतिशास्त्र में 'ऋत' शब्द उचित कर्मों का वाचक और सत्य के पथ का परिचायक अतएव सराहनीय जीवन पद्धति का प्रमाण माना गया है॥'**

—लक्ष्मण शास्त्री जोशी : **वैदिक संस्कृति का विकास** पृ० ३४

(अनुवादक : डा० मोरेश्वर दिनकर पराड़कर)

भामह ने श्रेष्ठ काव्य द्वारा चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का उल्लेख किया है।[1]

आचार्य कुन्तक ने साहित्य को धर्मादि का साधन कहा है।[2] आचार्य मम्मट ने भी काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए उसे कान्ता के समान रमणीय उपदेश देने वाला कहा है।

काव्य में जीवन के दोनों चित्रों का वर्णन होता है—शुभ का भी और अशुभ का भी। और यह चित्रण इस प्रकार का होता है कि पाठक शुभ-आचरण में अनुरक्त हो तथा अशुभ आचरण से विरक्त हो जाए। और इसके साथ-ही-साथ काव्य में सरसता भी बनी रहनी चाहिए। काव्य इस बात का उपदेश देता है कि रामादि के समान आचरण करना चाहिए और साथ ही रावणादि के आचरण से विमुख भी करता है।[4]

यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि काव्य का पाठक के नैतिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। इससे कोई भी इन्कार नहीं करता। किन्तु जब हम इस समस्या पर आते हैं कि काव्य की समीक्षा में, काव्यशास्त्र में काव्य के नैतिक पक्ष को क्या स्थान मिलना चाहिए, तो वहाँ विरोधी विचारधाराएँ संघर्ष करती दिखाई देती हैं। यों तो कलावादी भी काव्य के नैतिक प्रभाव—सत् या असत्—से इन्कार नहीं करता। किन्तु उसकी दृष्टि में यह प्रभाव उस रचना की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं बन सकता। उधर कलावाद के विपरीत अन्य सिद्धान्त भी हैं जो काव्य के नैतिक प्रभाव को उसकी श्रेष्ठता की कसौटी मानते हैं। इनके मतानुसार नैतिकता काव्य का अन्तरंग तत्त्व है, कोई बाहरी आनुषङ्गिक पहलू नहीं है। उनके मतानुसार काव्यों के मूल्यांकन एवं वर्गीकरण में नैतिक दृष्टि का

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥
—आचार्य भामह : काव्यालङ्कार—१।२

२. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदित.।
काव्यवन्धोऽभिजातानां हृदाह्लादकारकः॥
—आचार्य कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित—१।४

३. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतररक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
—आचार्य मम्मट : काव्य प्रकाश—१।२

४. कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य
रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं···
—आचार्य मम्मट—काव्य प्रकाश—१।२

उपयोग करना आलोचना का एक मुख्य प्रयोजन है। इस संबंध में कहा गया है :—

"वे सब अपने विभिन्न तरीकों से कलाकृतियों तथा साहित्य द्वारा व्यक्ति या समाज पर पड़े नैतिक या अर्धनैतिक प्रभावों में रुचि रखते हैं और सब अपनी शब्दावलियों में मानते हैं कि आलोचना का एक प्रमुख प्रयोजन है—कलाकृतियों द्वारा डाले गए प्रभावों के आधार पर उनका मूल्यांकन या वर्गीकरण।"[1]

साहित्य में कलावाद और लोकहितवाद का यह संघर्ष पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की एक मूलभूत समस्या रही है और उसी के प्रभाव से आधुनिक भारतीय आलोचना में इस समस्या ने प्रवेश किया है। किन्तु भारत की प्राचीन काव्यशास्त्रीय दृष्टि इस विषय में बड़ी स्पष्ट थी। एक ओर तो काव्य के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख किया गया और साथ ही काव्यकला के विभिन्न तत्त्वों—रस, शब्द-शक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति आदि और उनसे उत्पन्न अन्तश्चमत्कार की भी विशद मीमांसा की गई। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि पूर्ण एवं समन्वयात्मक रही है।

रस-सिद्धान्त के विवेचन में जहाँ विविध दार्शनिक दृष्टियों का उपयोग हुआ है, वहाँ नैतिक दृष्टि भी लक्षित होती है। वस्तुतः जब भारतीय चिन्तन के किसी भी रूप की मीमांसा में दार्शनिक दृष्टि के उपयोग की चर्चा की जाती है, तो वहाँ नैतिक दृष्टि अन्तर्निहित ही समझनी चाहिए क्योंकि यहाँ दर्शन और नीति के अन्योन्य सम्बद्ध रूप में ही दोनों का विवेचन हुआ है।

---

1. "........that all in their various ways are interested in the ethical or quasi-ethical influences exetred by works of art and literature upon the individual and society and all in their different terminologies maintain that it is a primary function of criticism to assess and grade works of art in terms of the influences which they exert."

—Harold Osborne : *Aesthetics and Criticism*, p. 12.

द्वितीय अध्याय

भरतमुनि का रस-सिद्धान्त

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र सबसे पहला प्राप्य ग्रंथ है जिसमें रस का विवेचन किया गया है। यद्यपि ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भरत से पूर्व भी रस के सम्बन्ध में विचार किया गया था, किन्तु आज उन विचारकों तथा उनकी रचनाओं के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। नाट्य-शास्त्र में ही भरत ने ऐसे श्लोकों को उद्धृत किया है जो उनके स्वरचित न होकर परम्परा-प्राप्त हैं। किन्तु वहाँ उन श्लोकों के रचयिताओं आदि का प्रामाणिक नामोल्लेख नहीं है। इसीलिए जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से रस-विवेचन का विवरण या उसकी मीमांसा प्रस्तुत करना चाहते हैं तो भरतमुनि का नाम ही सब से पहले आता है।

विवेचन-पद्धति

भरतमुनि के रस सम्बन्धी विचारों की चर्चा करने से पूर्व उनकी विवेचन-पद्धति के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझना कई दृष्टियों से उप-योगी होगा। सबसे पहली बात तो यह है कि भरत के समय में—सन् ईसवी की प्रायः दूसरी शताब्दी में—भारत में विवेचन-पद्धति का वैज्ञानिक रूप में विकास नहीं हो पाया था। ईसा की आठवीं शताब्दी में–शंकराचार्य के युग में–विवेचन-पद्धति जिस सूक्ष्म पूर्णता, और वैज्ञानिक संबद्धता को प्राप्त हुई थी, उसका कोई आभास भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के विवेचन-क्रम में नहीं दिखाई देता।

नाट्यशास्त्र में अस्पष्ट एवं अनिर्दिष्ट अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है। रस-सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' से भरत का क्या अभिप्राय है, यह बाद के काव्यशास्त्रियों के लिए एक व्यस्त पहेली बनकर रह गया। और सच

तो यह है कि आज भी यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का क्या अर्थ भरत को अभिप्रेत था।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि भरत ने इन शब्दों का प्रयोग अनजाने में ही किया है। वस्तुतः उस युग में भरत को इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई होगी। तब इनका विशिष्ट-निर्दिष्ट अर्थ रहा होगा। लेकिन साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि भरत को यह आभास नहीं हुआ होगा कि 'संयोग' और 'निष्पत्ति' के एकाधिक अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे-जैसे भारतीय चिन्तन गहराइयों में उतरता चला गया, वैसे-वैसे इन शब्दों की व्याख्या में भी कठिनाई होती चली गई।

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में ही नहीं, प्राचीन ग्रीक काव्यशास्त्र के अध्ययन में भी ऐसी ही कठिनाई पैदा होती है। अरस्तू ने त्रासदी के प्रभाव-पक्ष का विवेचन करते हुए 'कैथार्सिस' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु आज तक चिन्तकों में इस बात पर मतभेद है कि अरस्तू का इस शब्द से क्या अभिप्राय है। अरस्तू के लिए तो इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ होगा जो इतना अधिक प्रचलित होगा कि उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता ही पैदा नहीं हुई होगी।

भरत की विवेचन-पद्धति के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि उसमें दृष्टांत के आधार पर प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है—जैसे रस-निष्पत्ति के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने पेय या व्यंजन का उदाहरण दिया है। किन्तु भरत के विचारों को समझने के लिए इस दृष्टान्त की उपयोगिता सीमित ही समझनी चाहिये। इसका कारण यह है कि दृष्टान्त कोई प्रमाण नहीं। न भारतीय चिन्तन-प्रणाली में और न ही पाश्चात्य चिन्तन-प्रणाली में दृष्टांत को प्रमाण का महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। दृष्टान्त पर आधारित तर्क का निष्कर्ष अनिश्चित एवं भ्रामक भी हो सकता है।[1] इसलिए भरत द्वारा दिए गये उपरोक्त दृष्टान्त का प्रयोग सावधानी से ही होना चाहिए।

---

1. "The Argument from Analogy (at least in the usual sense of the term) is of the same inconclusive character as Induction by simple Enumeration in......H. W. B. Joseph : *An Introduction to Logic*, p. 532.
It is plainly not proof. As Lotze has pointed out, there is no proof for analogy. Many conclusions drawn in this way are afterwards verified, many are found to be false. Arguments from analogy can often be found pointing to opposite conclusions.—*Ibid*, p. 538.

किन्तु भरत का विवेचन दृष्टान्तों के सहारे ही आगे बढ़ता है। इससे स्वतन्त्र विवेचन में बाधा ही पड़ी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरत की विवेचना-पद्धति युग-सापेक्ष है और उसमें स्थान-स्थान पर अर्थ का निर्णय करने में कई प्रकार के संदेह अंकुरित हो जाते हैं। यही कारण है कि आज के काव्यशास्त्री के समक्ष रस के सम्बन्ध में कितने ही ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका उत्तर नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता।

भरतमुनि की विवेचन-पद्धति की इन सीमाओं के दो परिणाम हुए। एक तो यह कि भरत के बाद जब चिन्तन की शैली सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक होने लगी, तब उस दार्शनिक शैली से परिचित विद्वानों ने भरत के रस-सूत्र की व्याख्याएँ करना आरम्भ किया, और दूसरा यह कि जब भरत के रस-सम्बन्धी विचारों के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया, तो विभिन्न विद्वानों में उस सम्बन्ध में मतभेद लक्षित हुआ।

रस-विवेचन

रस के अवयव

भरतमुनि ने नाटक की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद के निर्माण में ऋग्वेद से पाठ्य लिया, सामवेद से गीत लिया, यजुर्वेद से अभिनय लिया और अथर्ववेद से रस लिए।[1] किन्तु इस कथन के द्वारा रस के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। हो सकता है कि अथर्ववेद का वह भाग जिससे रस का सम्बन्ध रहा हो, हमें प्राप्त न हो सका हो।

इसके बाद छठे अध्याय में नाटक में रस-निष्पत्ति का वर्णन करते हुए भरतमुनि ने कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। साथ ही यह भी कहा है कि रस की व्याख्या सबसे पहले की गई है क्योंकि रस के बिना नाटक में कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं होता।[2]

---

१. एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥
—भरत : नाट्यशास्त्र—१।१६,१७

२. तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
—भरत : नाट्यशास्त्र—अध्याय ६—पृ० ९२
(निर्णयसागर प्रेस का)

भाव—आज 'भाव' शब्द से चेतना के विकार विशेष या चित्तवृत्ति विशेष का अर्थ ग्रहण किया जाता है।[1] किन्तु भरत ने 'भाव' शब्द की व्याख्या इतने स्पष्ट रूप से नहीं की। उन्होंने 'भाव' की दो व्याख्याएँ दी हैं[2] :—

(क) जो वाचिक, आङ्गिक और सात्विक अभिनय से युक्त काव्यार्थ का भावन कराए वह भाव है। भाव की इसी परिभाषा को भरतमुनि ने स्वीकार किया है। इसको भाव की कार्य या प्रभावगत परिभाषा कह सकते हैं।

(ख) भाव वह है जो उसी प्रकार व्याप्त हो जाए जिस प्रकार गन्ध या रस किसी वस्तु में व्याप्त हो जाती हैं। इसे भाव की स्वरूपगत परिभाषा कह सकते हैं। किन्तु भरत के विवेचन से स्पष्ट है कि रस प्रकरण में उन्हें प्रथम परिभाषा ही ग्राह्य है।

वस्तुतः उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में दृष्टिभेद के कारण भेद लक्षित होता है। वस्तुतः दोनों एक साथ ग्रहण की जा सकती हैं। क्योंकि भाव चेतना में व्याप्त भी होता है और काव्यार्थ का भावन भी कराता है।

भरत ने आगे यह भी कहा है कि स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त हो जाते हैं।[3] प्रश्न यह है कि किसके भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं ? नाटक में हमारे सामने निम्नलिखित चार व्यक्तित्व होते हैं :

१—नाटककार का

२—पात्र का (ऐतिहासिक पात्र या कविनिवद्ध पात्र),

३—नट का, और

४—सामाजिक का।

इनमें नाटककार तो पात्र के भावों का ही चित्रण करता है और नट उनका प्रदर्शन करता है। सामाजिक के सामने तो नट द्वारा प्रदर्शित भाव ही

---

१. **भाव शब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिता।**

—अभिनव—पृ० २४३

२. **भावा इति कस्मात्। किंभवन्तीति भावाः, किंवा भावयन्तीति भावाः। उच्यते – वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावन्यतीति भावा इति। भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतमित्यर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थयम्।**

—भरत : **नाट्य**—अध्याय ७, पृ० १०४-१०५

३. **तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।**

—भरत—पृ० ९३

आते हैं। वे भाव ही वाचिक आदि अभिनय से उपेत होते हैं। और सामाजिक उन्हीं का रस रूप में आस्वादन करते हैं।[1] स्पष्टतः नट द्वारा प्रदर्शित भाव ही वाचिक आदि अभिनयों से युक्त होते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भरत ने नट के भावों की ही रसत्व-प्राप्ति का वर्णन किया है। डाक्टर कान्तिचन्द्र पाण्डेय का भी यही मत है।[2] क्या नट को भाव की अनुभूति होती है या वह केवल उसका प्रदर्शन ही करता है, इस विषय पर भरत मौन हैं।

भाव तीन प्रकार के माने गए हैं—

१—स्थायीभाव—इनकी संख्या आठ है,

२—व्यभिचारी भाव—इनकी संख्या तैंतीस है, और

३—सात्त्विक भाव—इनकी संख्या आठ है।

इस प्रकार कुल उनचास भाव हैं। उनमें से केवल स्थायी-भाव ही रस को प्राप्त होते हैं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि स्थायी-भाव ही रसत्व को प्राप्त क्यों होते हैं? तो भरत ने इसका यह उत्तर दिया है कि स्थायी भाव अन्यों की अपेक्षा विशिष्ट योग्यता एवं महत्व से युक्त हैं और इसलिए वे ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए लोक में अनेक मनुष्य प्रायः एक सी आकृति वाले होते हैं किन्तु एक ही राजा होता है, शेष उसके सहायक मंत्री आदि होते हैं।

विभाव—भरतमुनि ने विभाव के स्वरूप का जो वर्णन किया है वह अपर्याप्त एवं अनिर्दिष्ट है। यही कारण है कि भरत के आधार पर विभाव की व्याख्या करते समय मत-भेद की गुञ्जाइश पैदा हो जाती है।

भरत के अनुसार विभाव का अर्थ है विशेष ज्ञान या स्पष्ट ज्ञान। कारण, निमित्त और हेतु—ये सभी विभाव के पर्याय हैं। इसके द्वारा वाचिक, आङ्गिक

---

१. नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावाना-
स्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छंति।
—भरत : नाट्यशास्त्र—पृ० ९३

2. Thus Bhavas (mental states) present in the actor, when represented by means of their types of acting, bring into being, produce Rasa (relish or relishability) in the staeg presentation—Dr K. C. Pandey—*Compartive Aesthetics*--Vol, I p. 18.

३. अथ विभाव इति कस्मात्। उच्यते विभावो नाम विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्। —वही, पृ० ९३

और सात्विक अभिनय विभावित होते हैं, इसलिए इसे विभाव कहा जाता है।[3]

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन, (२) उद्दीपन। आलम्बन उस व्यक्ति विशेष को कहते हैं जिसके प्रति भावोद्बोध होता है और उद्दीपन के अन्तर्गत वे परिस्थितियाँ आती हैं जिनके बीच भावानुभूति होती है।

अनुभाव—जिसके द्वारा वाचिक आङ्गिक और सात्विक अभिनय की अनुभूति की जाए उसे अनुभाव कहते हैं।[1] भाव की अनुभूति करते समय स्वभावतया कुछ शारीरिक विकार जाग्रत होते हैं। शारीरिक विकार ही अनुभाव कहलाते हैं। इन अनुभावों के यथार्थ प्रदर्शन से काव्यार्थ की अनुभूति में तीव्रता आती है।

अनुभाव तीन प्रकार के माने गए हैं—वाचिक, आंगिक और सात्विक। **वाचिक** अनुभावों के अन्तर्गत आवेशमयी वाणी आदि हैं। **आंगिक** अनुभावों के अन्तर्गत वे शारीरिक चेष्टाएँ आती हैं जो आश्रय स्वेच्छा से करता है और **सात्विक** अनुभावों के अन्तर्गत वे शारीरिक विकार आते हैं जो स्वेच्छा से न होकर मन के स्वाभाविक वेग से स्वयमेव हो जाते हैं।

सात्विक भावों की व्याख्या करते हुए भरतमुनि ने कहा है कि सत्व का अर्थ है—मन से उत्पन्न। अतः सात्विक भावों का जन्म मन के समाधान से होता है।[2] अन्यमनस्क व्यक्ति सात्विक भावों का अभिनय नहीं कर सकता। तथा लोक-स्वभाव के यथार्थ प्रदर्शन के लिए सात्विक भावों का प्रदर्शन आवश्यक है।

उपर्युक्त वर्णन से इस समस्या पर प्रकाश डाला जा सकता है कि नटों को भावानुभूति होती है या नहीं। कम से कम यह तो स्पष्ट है कि सात्विक भावों के प्रदर्शन के लिए नटों में अनुभूति का होना आवश्यक है। भरत मुनि का

---

१. अथानुभाव इति कस्मात्। उच्यते। अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति।

—भरत : नाट्यशास्त्र पृ० १०५

२. इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते। मनः समाधानाच्च सद्यो निर्वृतिरित। तस्यच योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रु-वैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोक स्वाभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्वमीप्सितम्।

—वही, पृ० १२९-१३०

यह कथन है कि 'मन के समाधान से सात्त्विक भावों की निवृत्ति होती है', इस विषय में संदेह की गुंजाइश नहीं छोड़ता।

रस-निष्पत्ति

रस-निष्पत्ति सम्बन्धी भरत के सूत्र से यह तो स्पष्ट है कि रस की निष्पत्ति विभावादि के संयोग से होती है अथवा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव रस के अवयव हैं। रस-सूत्र में यद्यपि 'भाव' शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं किया गया, तदपि यह स्पष्ट रूप से भरत का मत है कि भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है।[1] यह बात उन्होंने रस-सूत्र की व्याख्या में ही कही है।

किन्तु रस-सूत्र के अन्तर्गत ऐसे दो शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका अर्थ अस्पष्ट एवं अनिर्दिष्ट है। ये शब्द हैं—'संयोग' और 'निष्पत्ति'। रस-निष्पत्ति के स्वरूप को समझाने के लिए षाडवादि रस का जो उदाहरण दिया गया है, उससे भी इन शब्दों के अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं होते। सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक शब्द पर अलग-अलग विचार किया जाएगा।

संयोग—'संयोग' शब्द का अर्थ है—मिलन या एक साथ संघटन। यह मिलन या संघटन अनेक प्रकार का हो सकता है। दूध और पानी के मिलन को भी संयोग कहा जा सकता है और फूल तथा काँटों के एक साथ संघटन को भी संयोग कहा जा सकता है। किन्तु इन दोनों उदाहरणों में संयोग का स्वरूप; अतः अर्थ भिन्न-भिन्न है। दूध और पानी के संयोग में तो दोनों मिलकर एक-प्राण हो जाते हैं, दोनों का भेद मिट जाता है, किन्तु फूल और काँटों के संयोग में दोनों अलग-अलग रहते हैं। एक में स्वरूप, देश और विशेषताओं का सम्मिलन हो जाता है, तथा दूसरे में केवल देश का ही सान्निध्य है। अतएव इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'संयोग' शब्द का प्रयोग कितने भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जा सकता है।

रस-सूत्र में 'संयोग' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है :—

"रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में विभावादि के पारस्परिक संयोग का स्वरूप क्या है ? एवं किसके भाव के साथ विभावादि का संयोग होता है ?"

---

१. **तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।**

—भरत : **नाट्यशास्त्र**—पृ० ९३

रस-निष्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए भरतमुनि ने जो दृष्टान्त[1] दिया है उससे पहले प्रश्न का उत्तर तो मिल जाता है। गुड़, औषधि आदि के संयोग से जो रस तैयार होता है, उसमें उसके सभी अवयव या तत्त्व घुल-मिलकर एक एवं अखंड हो जाते हैं। षाडवादि रस का स्वाद गुड़ादि सभी तत्त्वों के स्वाद से भिन्न होता है, मगर उन्हीं के विभिन्न स्वादों के परस्पर संयोग से निष्पन्न होता है।

उसी प्रकार नाटक में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में विभावादि परस्पर मिल कर एकरूप हो जाते हैं, उन सभी अवयवों के प्रभाव जो स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं, परिणामतः मिलकर एक अखंड प्रभाव की सृष्टि करते हैं। इसे ही रस कहा गया है। आगे के आचार्यों ने जो रसानुभूति को, सावयव होते हुए भी, अखंड घोषित किया है, उसका बीज भरत के उपर्युक्त दृष्टान्त में ही है। अन्तर इतना है कि बाद के आचार्यों ने अखंडता की सिद्धि दार्शनिक आधार पर की है, और भरत ने लौकिक आधार पर। वस्तुतः भरत के रस-विवेचन के मूल में कोई दार्शनिक पूर्वाग्रह नहीं है।

रस-निष्पत्ति के चारों तत्त्वों को—विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। विभाव और अनुभाव दृश्य एवं स्थूल होने के कारण प्रथम वर्ग में आते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध प्रधानतया बाह्य जगत से है। इसके विपरीत व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव का सम्बन्ध अन्तर्जगत से है, वे सूक्ष्म और अनुभूति-सापेक्ष हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विभावादि का संयोग किसके व्यभिचारी भाव या स्थायीभाव से होता है ? इसका कोई स्पष्ट उत्तर भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। फिर भी सारा विवेचन देख जाने के उपरान्त ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के मत में व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव नट के ही हैं, सामाजिक आदि के नहीं।[2]

---

१. **यथाहि नाना व्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा ही गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषाधिभिश्च षाडवादो रसा निवर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भाव रसत्वमाप्नुवन्तीति।**

—भरत : **नाट्यशास्त्र**—पृ० ९३

२. **यथा हि नाना व्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनस: पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्याभिव्यख्याताः।**

—**वही**, पृ० ९३

'नानाभिनयव्यञ्जित' और 'वागङ्गस्त्वोपेत' स्थायी भाव नट के स्थायीभाव ही हो सकते हैं, किसी अन्य के नहीं ।

यहीं पर एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह कि क्या नटादि स्थायीभाव की अनुभूति करते हैं या केवल उसका प्रदर्शन ही करते हैं ? पीछे सात्विक भावों के स्वरूप की चर्चा में नट के 'मन: समाधान' की चर्चा की गई है जिससे यह संकेत मिलता है कि नट को सात्विक भावों की अनुभूति होती है । किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह स्थायीभावों की अनुभूति भी करता है । भरत मुनि का बल तो स्थायीभावों के प्रदर्शित रूप पर ही है क्योंकि प्रेक्षक उसी का आस्वादन करते हैं और इसीलिए भरत ने केवल उसी की चर्चा की है ।

यद्यपि यह स्पष्ट है कि भरत के अनुसार स्थायीभाव का सम्बन्ध नट से है, मगर वह सम्बन्ध कैसा है ? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि आगे के आचार्यों के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में यह एक मूलभूत प्रश्न उठाया जाता है । भरत ने यह स्पष्ट नहीं किया कि क्या स्थायीभाव वस्तुत: नट में होता है या वह उसका प्रदर्शन मात्र करता है ? क्या नट के वे स्थायी भाव कृत्रिम हैं और नायकादि के भावों की अनुकृति मात्र हैं ? या क्या नायकादि से सादृश्य (अनुसंधान) के कारण सामाजिक को नट में स्थायीभावों की प्रतीति होती है ? यदि नट के हृदय में स्थायीभाव वस्तुत: विद्यमान न हों, तो ये दोनों ही व्याख्याएँ दी जा सकती हैं और भरत के दो व्याख्याकारों—भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक ने यही व्याख्याएँ दी भी हैं । इन दोनों में से कौन-सा मत भरत की दृष्टि के अनुकूल है, यह कहने का कोई स्पष्ट आधार तो नहीं है । मगर भरत ने जो दृन्टान्त का दृढ़ आधार पकड़ा है और जिस प्रकार षाडवादि रस या व्यञ्जन के विविध पक्षों को रस पर घटाया है, उससे तो यह संकेत मिलता है कि उपर्युक्त दोनों ही व्याख्याएँ भरत की दृष्टि से गलत हैं । क्योंकि यदि हम भी भरत की ही दृष्टान्ताश्रित तर्क-पद्धति का अनुसरण करें, और भरत के विचारों को समझने के लिए यही एकमात्र सही रास्ता है, तो यह मानना पड़ेगा कि स्थायीभाव वास्तव में नट के हृदय में विद्यमान होने चाहिए । क्योंकि जिस प्रकार षाडव रस या व्यञ्जन के बनाने के लिए सभी उपकरण उपस्थित होने चाहिए, उसी प्रकार रंगमंच में भी रस के निर्माण के लिए भी सभी तत्त्व, विभावादि और स्थायीभाव, उपस्थित होने ही चाहिए । यदि गुड़ादि षाडव रस के तत्त्वों में से एक का भी अभाव होगा तो षाडव रस नहीं बनेगा । इसी प्रकार विभावादि एवं भाव में से एक भी अवयव का अभाव होगा तो रस का निर्माण नहीं हो पाएगा । इस तर्क के विरोध में यह कहा जा सकता है कि रस-सूत्र में

भरत ने भाव का उल्लेख नहीं किया। यद्यपि यह ठीक है किन्तु रस-सूत्र की व्याख्या में उन्होंने विभावादि के साथ भाव की अनिवार्यता का भी उल्लेख किया है और यह कहा है कि भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है।[1] और यदि हम नट के हृदय में स्थायीभाव की वास्तविक उपस्थिति न मानें तो उसकी प्रतीति या अनुमिति ही माननी पड़ेगी। सारांश यह कि भरत ने स्थायीभाव के आश्रय के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया, और इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा है उसके आधार पर नट में उसकी वास्तविक स्थिति भी मानी जा सकती है, तथा प्रतीति या अनुमिति भी। लोल्लट और शंकुक ने प्रतीति तथा अनुमिति का उल्लेख तो किया है, किन्तु नट में उसकी वास्तविक स्थिति भी मानी जा सकती है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है।

निष्पत्ति—जिस प्रकार भरत मुनि ने स्थायीभाव की स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डाले बिना ही विभावादि के साथ उसके संयोग की चर्चा की है, उसी प्रकार रस की स्थिति का पूर्ण विवेचन किये बिना ही रस-निष्पत्ति की चर्चा भी कर दी है। रस-निष्पत्ति पर विचार करते हुए हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं।

१—'निष्पत्ति' का अर्थ क्या है, तथा

२—रस-निष्पत्ति कहाँ होती है ? अथवा रस का आश्रय कौन है ?

(१) **निष्पत्ति का अर्थ**—रस-सूत्र के स्पष्टीकरण में भरत ने यह कहा है कि विभावादि के संयोग से 'स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।' अन्यत्र रस के आस्वादन का वर्णन करते हुए यह कहा है कि 'नानाभिनयव्यञ्जित'[2] तथा 'वागङ्गसत्वोपेत स्थायीभावों' का आस्वादन प्रेक्षकों द्वारा किया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्थायीभाव का 'नानाभिनयव्यञ्जित' होकर 'वागङ्गसत्वोपेत' हो जाना ही, रस-रूप हो जाना है। रस विभावादि तथा स्थायीभाव का संश्लिष्ट रूप है। अतएव निष्पत्ति का अर्थ हुआ—स्थायीभाव का वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनय से उपेत हो जाना।

---

१. **तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भाव रसत्वमाप्नुवन्तीति।**

—भरत : **नाट्यशास्त्र**—पृ० ९३

२. **नाना भावभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस : प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।**

—वही, पृ० ९३

(२) **रस का आश्रय एवं स्वरूप**—उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि रस का आश्रय न तो प्रेक्षक ही है, और न नट ही। रस का आश्रय तो रंगमंच है। जिस प्रकार गुड़ादि विविध व्यञ्जनों के संयोग से पात्र में षाडवादि रस निष्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार विभावादि तथा नट-प्रदर्शित स्थायीभाव के संयोग से रंगमंच पर रस की निष्पत्ति हो जाती है। अतः भरत के मतानुसार रस आस्वाद रूप नहीं वरन् एक संश्लिष्ट पदार्थ[1] है जो आस्वाद्यत्व गुण से युक्त है, तथा जिसकी निष्पत्ति रंगमंच पर होती है। डाक्टर कांतिचन्द्र पाण्डेय ने रस को 'सौंदर्य-विषय' कहा है और उसे अन्य सभी विषयों से विलक्षण माना है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरतमुनि के अनुसार रस एक पदार्थ है जिसकी निष्पत्ति रंगमंच पर होती है। इससे सिद्ध है कि रस व्यक्ति-निरपेक्ष है, अपने आप में पूर्ण एक सत्ता है। यदि रंगमंच पर अभिनय हो रहा है और दर्शक नहीं है, तो भी वहाँ रस की स्थिति माननी पड़ेगी। भरत ने जो दृष्टान्त दिया है, उससे भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। गुड़ तथा अन्य व्यञ्जनों के संयोग से षाडव रस की निष्पत्ति होती है। चाहे उस रस का भोक्ता कोई हो या न हो, षाडव रस तो निष्पन्न हो ही जाता है। उसी प्रकार चाहे रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक का आस्वाद करने वाला कोई भी न हो, तो भी रस की निष्पत्ति तो वहाँ सिद्ध ही है। भरत के बाद के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने रस को अनुभूति मात्र सिद्ध किया है, उसका आश्रय सामाजिक को माना है और हिन्दी का सामान्य विद्यार्थी उसी मत से परिचित है। वस्तुतः उनकी मान्यता भरतमुनि की मान्यता के बिल्कुल विपरीत है और इसीलिए हिन्दी के सामान्य विद्यार्थी को भरत का उपर्युक्त मत समझने में कठिनाई हो सकती है। किन्तु भरत का मत अपने आप में स्पष्ट है और महत्वपूर्ण भी है।

यद्यपि भरत ने सामाजिक की अनुभूति का उल्लेख किया है किन्तु वे उसे रस नहीं मानते (इसका विवेचन आगे किया जाएगा)। उनकी वस्तुवादी दृष्टि ने तो लौकिक दृष्टान्तों के आधार पर रंगमंच पर ही रस की स्थिति को स्वीकार किया, और यह स्वाभाविक भी था। रंगमंच पर विभावादि तथा

---

१. **रस इति कः पदार्थः उच्यते। आस्वाद्यत्वात्।**

—भरत : **नाट्यशास्त्र**—पृ० ६३

2. In the context of aesthetics, however, it stands for the aesthetic object.—(p. 10)......In short, it has its independent being in its own world, which is different from the world of daily life and may be called the aesthetic world.

—Dr. K.C. Pandey: *Comparative Aesthetics*, Vol I p. 25–26.

नट-प्रदर्शित भाव की सत्ताएँ पृथक्-पृथक् नहीं रहतीं, वरन् वे तो परस्पर सम्बद्ध एवं संश्लिष्ट रूप से उपस्थित होते हैं। अलग-अलग रूप में हम उन्हें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव कहते हैं, मगर उनके सम्बद्ध-संश्लिष्ट रूप को क्या कहा जाए ? यह समस्या भरत के सामने भी थी और आज भट्ट नायक आदि रस-सिद्धान्त को मानने वाले काव्यशास्त्रियों के सामने भी। भरत ने विभावादि और भाव के इस संश्लिष्ट रूप को ही रस कहा है। व्यष्टि रूप में जो विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी-भाव हैं, अखंड समष्टि रूप में वे ही रस की संज्ञा को प्राप्त करते हैं। जब तक रस के अवयवों के प्रदर्शन में सम्बद्धता का अभाव रहेगा, व्यतिक्रम रहेगा, तब तक रस की निष्पत्ति नहीं होगी। और असम्बद्ध विभावादि के प्रदर्शन से नाटक निरर्थक ही हो जाएगा इसीलिए भरतमुनि ने यह कहा कि रस के बिना नाटक निरर्थक है।[1] जब तक विभावादि और स्थायीभाव में संश्लेष नहीं होगा, नाटक का प्रदर्शन व्यर्थ ही होगा।

यह स्पष्ट है कि भरतमुनि के मतानुसार रस एक संश्लिष्ट पदार्थ है। भिन्न-भिन्न अवयव होते हुए भी उसमें वे सब ऐसे विलीन हो जाते हैं कि वह एक इकाई बनकर प्रस्तुत होता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रस लौकिक पदार्थ है या अलौकिक ? भरत के सम्मुख यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं हुआ, क्योंकि उनके विवेचन से स्पष्ट है कि रस एक ऐसा पदार्थ है जिसकी स्थिति नाटक में ही हो सकती है। उसे लौकिक पदार्थों से विलक्षण मानना या उसे 'सौन्दर्य-संसार'[2] का पदार्थ मानना असंगत है। 'सौंदर्य-संसार' की उद्भावना एक आधुनिक युग की उद्भावना है। भरत की विचारधारा में इसका कहीं संकेत नहीं मिलता। भरत का मत तो सहज स्पष्ट है। जिस प्रकार औषधि के क्षेत्र में उसका अपना रस होता है, पेय-वर्ग के अपने रस होते हैं, व्यञ्जनों के अपने रस होते हैं, उसी प्रकार नाटक का भी अपना विशिष्ट रस होता है। बिना रस के औषधि व्यर्थ है, बिना रस के पेय व्यर्थ है, बिना रस के व्यञ्जन व्यर्थ है और बिना रस के नाटक व्यर्थ है। ये सभी रस पदार्थ-रूप हैं और लौकिक हैं। इसी संसार के विषय हैं, किसी भिन्न सृष्टि के नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि एक प्रकार का रस एक क्षेत्र में मिलता है, दूसरे प्रकार का रस दूसरे क्षेत्र में। हैं सभी लौकिक।

---

१. नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते इति।

—भरत : नाट्यशास्त्र—पृ० ९२

२. देखिए—डाक्टर कांतिचरण पाण्डेय का उद्धरण जो पीछे दिया है।

रसास्वाद—रसास्वाद की प्रक्रिया का निरूपण भी भरतमुनि ने अपनी सहज लौकिक दृष्टि से ही किया है। जिस प्रकार मनुष्य सरस व्यञ्जनों का आस्वादन करते हैं तथा आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार सहृदय प्रेक्षक विविध प्रकार के अभिनयों से व्यंजित स्थायीभावों का आस्वादन कर हर्षादि को प्राप्त होते हैं। रस का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के बाद रसास्वाद का स्वरूप भी सहज ही स्पष्ट हो जाता है। नाट्यरस भी भोजन के रस के समान पदार्थ ही है, और उसी वस्तुवादी प्रक्रिया से उसका आस्वादन होता है। अन्तर इतना है कि भोजन के रस का आस्वाद जिह्वा द्वारा किया जाता है और नाट्य के रस का आस्वादन नेत्र और श्रवण द्वारा किया जाता है। भरत द्वारा प्रतिपादित रसास्वाद की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण एक अन्य उदारहण से अधिक सुगमता से किया जा सकता है।

किसी भी सुन्दर पदार्थ–कमल, या दृश्य–ऊषा–को देखकर एक विशेष प्रकार के आह्लाद की अनुभूति होती है। उस अनुभूति के लिए हम किसी एक शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते, उसमें हर्ष भी होता है, चमत्कार भी होता है, सात्विकता भी होती है। उसी प्रकार सहृदय प्रेक्षक रंगमंच पर विभावादि तथा नट-प्रदर्शित स्थायीभाव के एक तान संश्लेष–रस–का आस्वादन करता है और हर्षादि की अनुभूति करता है। 'हर्षादींश्चधिगच्छन्ति' में हर्ष के साथ जो 'आदि' का भी प्रयोग हुआ है, उससे चमत्कार आदि का ही संकेत मिलता है, दुःख का नहीं। इस प्रयोग से यह संकेत भी मिलता है कि भरत के मत में रसानुभूति हर्षमय है, सुखमय है। जिस प्रकार विविध व्यञ्जनों के खाने में तिक्त और कषायादि रस, जो सामान्यतः उद्वेगजनक होते हैं, वे भी आनन्द-दायी बन जाते हैं, उसी प्रकार रसानुभूति में शोकादि सामान्यतः उद्वेगजनक होते हुए भी, हर्षादि का ही संचार करते हैं। अतएव भरतमुनि के अनुसार रसास्वाद आनन्दमय ही होता है।

यद्यपि भरतमुनि ने प्रेक्षक की अनुभूति का निरूपण भी किया है, फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भरत के रस-विवेचन में सबसे अधिक अपूर्ण और दुर्बल पक्ष यही है। यद्यपि भरत ने इसकी उपेक्षा नहीं की, फिर भी इसे जितना महत्व मिलना चाहिए उतना महत्व नहीं मिला। भरत ने यह तो कहा कि सामाजिक रसास्वद करते समय हर्ष की अनुभूति करता है, किन्तु क्या विभिन्न रसों की अनुभूति एक जैसी ही होती है? या उनकी अनुभूति में कुछ अन्तर भी होता है? साथ ही भरत का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया कि नाटक का रस षाडवादि रस के समान जड़ और निष्पन्न नहीं जिसे मनुष्य पी ले, वह तो स्वयं सक्रिय एवं गतिशील है। रंगमंच पर नट जब

विभावादि का सक्रिय एवं प्रभावशाली प्रदर्शन करते हैं तो उसका सामाजिकों पर जो प्रभाव पड़ेगा वह कोई स्थिर प्रभाव न होकर गतिशील प्रभाव होगा। विभावादि के दो कार्य हैं। एक तो वे परस्पर संयुक्त होकर स्थायीभाव से संश्लिष्ट होते हुए रंगमंच पर रस की निष्पत्ति करते हैं, मगर साथ ही वे, पृथक्-पृथक् रूप से एवं संयुक्त रूप से सामाजिक को भी प्रभावित करते हैं, उसके मन में भी भाव-लहरियों का संचार करते हैं। उधर रंगमंच पर रस की निष्पत्ति होती है, तो इधर सामाजिक की चेतना में भी तो भाव निरन्तर जाग्रत, गतिशील और पुष्ट होते रहते हैं। रंगमंच पर रस-निष्पत्ति एकदम तो हो नहीं जाती, उसमें समय लगता है, विभावादि को भाव के साथ संश्लिष्ट रूप से उपस्थिति होने में कुछ कार्य-व्यापार और काल-विस्तार की अपेक्षा होती है। नाटक के आरम्भ से लेकर उस बिन्दु तक जहाँ रंगमंच पर विभावादि संश्लिष्ट होकर रस-निष्पन्न करते हैं, सामाजिक की चेतना की अवस्था क्या होती है, इसका कोई उल्लेख भरत में नहीं मिलता।

इसका कारण भी स्पष्ट है ; और वह यह कि भरतमुनि की दृष्टि दृष्टान्त में उलझ कर रह गई है। जिस प्रकार षाडव रस या भोजन के रस का आस्वाद होता है, भरत के मत में उसी प्रकार नाट्य-रस का आस्वाद भी होता है। मगर इन दोनों रसों में अन्तर है जो आस्वाद की प्रक्रिया में आमूल परिवर्तन कर देता है ; और वह यह कि षाडव रस एक निष्पन्न जड़ तत्त्व है, जबकि नाट्य-रस की निष्पत्ति एक चेतन प्रक्रिया है। इस अन्तर को स्पष्ट रूप से लक्षित न कर सकने के कारण ही भरत मुनि नाट्य-रस के आस्वाद को स्वतंत्र रूप से स्पष्ट नहीं कर सके।

भाव और रस का सम्बन्ध

भाव और रस के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर भरतमुनि ने इस प्रश्न का उल्लेख किया है कि—"क्या रसों से भावों की निर्वृत्ति होती है या भावों से रसों की।"[1] कुछ लोगों का मत है कि दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं और दोनों के सम्बन्ध से दोनों की निष्पत्ति होती है। मगर भरतमुनि इस मत को नहीं मानते। क्योंकि जैसा कि वे रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भी स्पष्ट कर चुके हैं,

---

१. **अत्राह किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। उच्यते केषांचिन्मतें परस्पर संबंधादेषामभिनिष्पत्तिरिति। तन्न। कस्मात्। दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तरित।**

—भरत : **नाट्यशास्त्र**—पृ० ६३–६४

उनके मत में भाव ही रस को प्राप्त होते हैं, रस से भाव की निष्पत्ति नहीं होती। भाव की व्याख्या ही यही है कि वह रसों का भावन कराए। इसलिए यह सिद्ध है कि भाव से ही रस की निर्वृत्ति होती है।

भरतमुनि के इस प्रश्न से यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि यद्यपि भरत के मत में विभावादि और स्थायीभाव के संयोग से ही रस-निष्पत्ति होती है तो भी रस-निष्पत्ति में भाव का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वह रसत्व को प्राप्त करता है और विभावादि इसमें संयोग देते हैं।

दार्शनिक व्याख्या

भरत के रस-सिद्धान्त के विवेचन के अन्तर्गत यह कहा गया है कि उनकी दृष्टि एक लौकिक एवं व्यावहारिक दृष्टि है तथा उनके रस-विवेचन में किसी दार्शनिक वाद-विशेष के प्रभाव का अन्वेषण व्यर्थ होगा। इसका कारण ऐतिहासिक ही है क्योंकि भरत के युग तक—सन् ईसवी की प्रायः दूसरी शती तक, दर्शन के क्षेत्र में कोई सम्बद्ध चिन्तन नहीं हो पाया था, यद्यपि वेदकालीन भारतीय दार्शनिक चेतना का निरंतर विकास हो रहा था। किन्तु एक ओर तो वह चेतना दार्शनिक वादों के रूप में प्रतिफलित नहीं हुई तथा दूसरी ओर दर्शन जीवन के अन्य विषयों से दूर ही दूर पनपता रहा। किन्तु जब दार्शनिक चेतना वादों एवं सम्प्रदायों के रूप में प्रतिष्ठित हुई—(आठवीं शती) तब वह स्वभावतः चिन्तन के अन्य क्षेत्रों के निकट आने लगा। यही कारण है कि इस काल में या इसके बाद जो काव्यशास्त्री—भट्टनायक आदि हुए, उन पर इन दार्शनिक मतवादों का सघन प्रभाव पड़ा।

यद्यपि यह सत्य है कि भरत ने अपने रस-विवेचन में दार्शनिक दृष्टि का उपयोग नहीं किया, फिर भी प्रस्तुत प्रकरण में उनके सिद्धान्त की दार्शनिक व्याख्या का प्रयास किया जाएगा। इस सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि जब उनमें दार्शनिक दृष्टि का अभाव है—जिसे हमने भी स्वीकार किया है—फिर उनकी दार्शनिक व्याख्या करना कहाँ तक संगत है ?

इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि यदि कोई विचारक अपने सिद्धान्तों को दर्शन-विशेष पर आश्रित नहीं करता तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसके विचारों की दार्शनिक व्याख्या नहीं हो सकती या नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः उसको सम्यक् रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी मूलभूत दृष्टि का उद्घाटन किया जाए। उसकी मूलभूत दृष्टि दर्शन की किसी न किसी मूलभूत दृष्टि से मिलती-जुलती हो सकती है। लेकिन इस प्रकार के प्रयास में सावधान रहना चाहिए। उस विचारक के सिद्धान्तों को किसी दर्शन-

विशेष के प्रकाश में नहीं देखना चाहिए वरन् मूल दार्शनिक दृष्टि के आलोक में ही उसका निर्धारण होना चाहिए।

दर्शन-विशेष और मूल दार्शनिक दृष्टि में बड़ा अन्तर है—जो समझना प्रस्तुत विवेचन के लिए आवश्यक है। दार्शनिक मत तो असंख्य हैं किन्तु मूल दार्शनिक दृष्टियाँ तीन ही हैं। हरेक विचारक अथवा दार्शनिक का अपना दर्शन-विशेष होता है किन्तु उसको किसी न किसी मूल दार्शनिक दृष्टि के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मूल दार्शनिक दृष्टियों को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि समस्त सृष्टि के मूल में दो तत्त्वों की सत्ता लक्षित होती है—एक पदार्थ अथवा विषय, दूसरा चेतना अथवा विषयी। पदार्थ और चेतना—ये दो मूल पदार्थ हैं। इन्हीं की प्रधानता, गौणता अथवा मिथ्यात्व की मान्यता के आधार पर तीन मूल दार्शनिक दृष्टियों की स्थापना की जा सकती है :—

१—**यथार्थवादी दृष्टि**—यह पदार्थ को सत्य एवं चेतना से निरपेक्ष रूप से सिद्ध मानती है। यह या तो चेतना को पदार्थ से उत्पन्न मानती है अथवा उसे गौण स्थान देती है।

२—**विचारवादी दृष्टि**—यह चेतना को प्रधान सत्य एवं पदार्थ को असत्य या गौण मानती है।

३—**शून्यवादी दृष्टि**—यह चेतना एवं पदार्थ दोनों को अवाङ्मनसगोचर मानकर एक मूल सत्य की स्थापना करती है जो अनिर्वचनीय है। इसीलिए उसे 'शून्य' कहते हैं। शून्य अभावात्मक सत्ता नहीं है जैसा कि कुछ विद्वान् समझते हैं। वह है तो भावात्मक किन्तु अज्ञेय होने के कारण उसके लिए शून्य से अधिक उपयुक्त शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इस तीसरी दृष्टि की प्रतिष्ठा भारत में ही हुई है। इसलिए अधिकांश दार्शनिक मत प्रथम दो दृष्टियों के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं। रस-सिद्धान्त की विविध व्याख्याओं के अध्ययन में हमें इन्हीं दो दृष्टियों का ही उपयोग करना पड़ेगा। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में भरत की रस-सम्बन्धी मूल दृष्टि को समझने में सहायता होगी।

भरत की इस दार्शनिक व्याख्या से एक अन्य लाभ भी होगा। और वह यह कि क्योंकि भट्टनायक आदि रस-सूत्र के परवर्ती व्याख्याताओं ने सजग रूप से दार्शनिक दृष्टियों का उपयोग किया है, इसलिए भरत की मूल दार्शनिक दृष्टि के विश्लेषण से उनके यथार्थ ग्रहण और वास्तविक मूल्यांकन में सुविधा होगी। यह सरलता से जाना जा सकेगा कि रस-सूत्र के व्याख्याकारों में क्या

क्या समानताएँ या भिन्नतायें हैं। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

भरत की मूल दृष्टि—सहज यथार्थवादी दृष्टि

जब हम भरत की मूल दृष्टि के परीक्षण का प्रयास करते हैं तो सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि वह यथार्थवादी दृष्टि ही है। इसका प्रमाण है भरत द्वारा प्रतिपादित रस का स्वरूप। भरत ने रस को आस्वाद्यत्व गुण से युक्त पदार्थ माना है और वह रस व्यक्ति-निरपेक्ष है। चाहे कोई द्रष्टा है, चाहे नहीं, रस, विभावादि से उपेत स्थायीभाव, विद्यमान रहेगा। अभिनव गुप्त की विचारवादी दृष्टि[1] की तुलना में भरत की रस-दृष्टि[2] को रख कर देखने से भरत का यथार्थवादी पूर्वाग्रह सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

वस्तुतः भरत की दृष्टि एक सहज यथार्थवादी दृष्टि है। आरम्भ में जब व्यक्ति की चेतना में सूक्ष्मता की अपेक्षा बाह्य विस्तार की अधिकता थी तो उसने सृष्टि को यथातथ्य रूप में ग्रहण किया। वह सभी वस्तुओं की स्वतःपूर्ण और चेतना-निरपेक्ष सत्ता को सहज भाव से ही स्वीकार करके चला। आज का सामान्य व्यक्ति भी इसी सहज यथार्थवादी दृष्टि को मानकर चलता है।

इस सहज यथार्थवादी दृष्टि के कारण ही भरत ने पदार्थ–रस के स्वरूप की व्याख्या पर अधिक बल दिया है। विषयी अर्थात् सामाजिक के भावों के विश्लेषण का प्रयास ही नहीं किया। इस सम्बन्ध में केवल इतना कह दिया गया है कि रस के भोग से वह हर्षादि को प्राप्त होता है। एक सूक्ष्म अथवा सजग यथार्थवादी चिन्तक केवल इतने से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह पदार्थ-रस और सामाजिक की अनुभूति—हर्षादि के सम्बन्ध को अधिक सूक्ष्मता से दर्शाने की चेष्टा करता है। विचारवादी चिन्तक पदार्थ—रस के स्वरूप का निर्णय विचार या अनुभूति के प्रकाश में करता है—जैसा कि बाद के विचारवादी चिन्तकों ने किया है।

भरत के रस-विवेचन में दो व्यापारों की चर्चा विशेष रूप से हुई है। एक 'संयोग' और द्वितीय 'निष्पत्ति'। भरत के मत में ये दोनों व्यापार सामाजिक की चेतना में नहीं, वरन् रंगमंच पर ही होते हैं। विभावादि का भाव से संयोग भी नट द्वारा रंगमंच पर ही होता है तथा रस की निष्पत्ति भी रंगमंच पर होती है। ये तथ्य भी भरत की सहज यथार्थवादी दृष्टि के अनुकूल ही हैं। विचारवादी काव्यशास्त्री इन दोनों व्यापारों को सामाजिक की चेतना से सम्बद्ध करके देखते हैं।

---

१. **रस एक अनुभूति या संवेदन है**।—अभिनवगुप्त

२. **रस एक पदार्थ है**।—भरत

'संयोग' और 'निष्पत्ति'

'संयोग' के सम्बन्ध में पहली बात तो वह है जिसका संकेत ऊपर किया गया है। और दूसरी विचारणीय बात यह है कि संयोग का स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्ध में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

१—स्थायीभाव विभावादि द्वारा व्यंजित होते हैं,

२—वाचिक आदि अनुभावों से उपेत होते हैं, और

३—ऐसे स्थायी भाव (१, २) रसत्व को प्राप्त होते हैं।

हम यह कह सकते हैं कि रस 'कार्य' है और विभावादि 'कारण'। यद्यपि भरत ने रस के लिए 'कार्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया फिर भी विभाव के लिए निमित्त या 'कारण' शब्द का प्रयोग तो किया ही है। यदि हम अनुभाव, व्यभिचारी भाव, और स्थायीभाव को भी रस का कारण मान लें तो इसमें कोई दार्शनिक असंगति नहीं होगी, क्योंकि जिस वस्तु की निर्मिति में जितनी वस्तुएँ सहायक हों वे सब उस वस्तु का कारण कहला सकती हैं। यद्यपि इस दृष्टि से रंगमंच, नट आदि भी रस के कारण हो जायेंगे किन्तु हम मुख्यतः विभावादि की कारणता पर ही विचार करेंगे और आवश्यकतानुसार अन्यों की चर्चा भी करेंगे। कारण वस्तुतः दो प्रकार के माने गये हैं :—

(१) उपादान कारण—वह कारण जो स्वयं ही कार्य के रूप में परिणत हो जाए, जैसे—मिट्टी, घड़े का उपादान कारण है, और

(२) निमित्त कारण—वह जो उपादान कारण को कार्य में परिणत होने में सहायता दे ; जैसे—चाक और डंडा घड़े के निमित्त कारण हैं।

'रस-निष्पत्ति' में भरत ने विशेष बल तो स्थायीभाव पर ही दिया है—'नानाभावोपगताऽपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।' इससे तो यही प्रतीत होता है कि भाव रस का उपादान कारण है। किन्तु एक अन्य उद्धरण में जहाँ 'नानाभावाभिनय व्यञ्जित' और 'वागङ्गसत्वोपेत' स्थायीभावों के आस्वाद की चर्चा की गई है, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनय और अनुभाव को भी रस के उपादान कारण में मानना पड़ेगा। स्पष्टतः आलम्बन रस के उपादान कारण में नहीं आएगा, वह तो निमित्त कारण ही माना जाएगा। किन्तु अभिनय और अनुभावों को भाव के साथ उपादान कारण माना जा सकता है। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि विशेष बल स्थायीभाव पर ही है। भट्ट नायकादि परवर्ती विचारकों में यह स्पष्ट रूप से देखेंगे कि उन्होंने भाव मात्र को ही रस का उपादान कारण माना है, विभावादि सब निमित्त कारण में ही आते हैं।

यहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि क्या रस-कार्य—विभावादि से

बिल्कुल पृथक् कोई नवीन निर्मिति है या केवल भाव का ही एक परिवर्तित स्वरूप है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए भरत में पर्याप्त सामग्री नहीं है। फिर भी जितने तथ्य उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब भरत स्थायी भाव की रसत्व-प्राप्ति की बात करते हैं तब वे रस को भाव से सर्वथा पृथक् कोई नवीन निर्मिति नहीं मानते। उन्होंने प्रपानक रस या भात का जो उदाहरण दिया है उससे भी यही पुष्ट होता है कि रस कोई सर्वथा नवीन सृष्टि नहीं है वरन् एक संसृष्टि है जो अपने अवयवों के गुणों के संयोग से एक ऐसे गुण को जन्म देती है जिसमें उसके अवयवों के गुणों का अन्तर्भाव है।

भरत की रस-निष्पत्ति के स्वरूप को एक अन्य दार्शनिक सम्बन्ध द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। वह सम्बन्ध है अंगांगि या अंशांशि भाव। रस अंगी है और विभावादि उसके अंग हैं। इन अङ्गों के संयोग से ही अङ्गी रस की सृष्टि होती है। अङ्गों से भिन्न अंगी कुछ भी नहीं है। एक अंग के अभाव में भी अंगी का स्वरूप विकृत हो जाएगा और अंगों की महत्ता भी इस बात में है कि वे परस्पर संयोग से अंगी की सृष्टि करें। अंगी के अस्तित्व के अभाव में अंग महत्वहीन और व्यर्थ हो जाता है। इसके साथ ही साथ अंगी एक दृष्टि से अंगों की अपेक्षा नवीनता भी लिए हुए है और एक दृष्टि से वह अंगों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। अंगी प्रत्येक अंग से भिन्न है किन्तु उस अंग को अपने भीतर समाहित किये हुए है। इस प्रकार अंगी सखंड भी है और अखंड भी। अंगों का होना उसकी सखंडता का प्रमाण है और उसका अपना एक पृथक् व्यक्तित्व एवं सत्ता उसकी अखंडता के प्रमाण हैं। इसी प्रकार रस मूलतः सखंड या सावयव होते हुए भी परिणामतः अखंड ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि अंगागि सम्बन्ध में मूल तत्व कौन सा है ? स्पष्टतः इसका मूल तत्व है—अंगों की योजना। अंगों द्वारा अंगी की सृष्टि होगी या नहीं, यह इस योजना या संयोग पर ही निर्भर करता है। यदि योजना सदोष है तो सभी अंगों के होते हुए भी अंगी की निर्मिति नहीं होगी। इसलिए रस-निष्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि विभावादि का एक निश्चित रूप से संयोग हो। और इस संयोग का कर्त्ता है नट—उसकी शिक्षा और अभ्यास। इस पर भरत ने पर्याप्त एवं विस्तृत बल दिया है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भरत के रस- विवेचन पर किसी विशिष्ट भारतीय दर्शन का प्रभाव लक्षित होता है या नहीं ? अथवा किसी दार्शनिक मत-विशेष के साथ उसका संबंध स्थापित किया जा सकता है या नहीं ?

वस्तुतः उक्त विवेचन में इस प्रश्न का उत्तर निहित ही है। भरत का

विवेचन सर्वथा साहित्यिक (लौकिक) है तथा उसमें किसी भी दार्शनिक वाद का प्रभाव लक्षित नहीं होता। अन्तस्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों के आधार पर इस मत की पुष्टि की जा सकती है। जहाँ तक अन्तस्साक्ष्य का सवाल है, भरत ने किसी दार्शनिक मत के प्रभाव का संकेत तक नहीं किया। नाट्यशास्त्र के आरंभ में उन्होंने वेदों के प्रभाव की चर्चा तो की है मगर किसी दर्शन की नहीं। वेदों के प्रभाव का उल्लेख इस बात का स्वतः प्रमाण है कि उन पर किसी दार्शनिक मत का प्रभाव नहीं पड़ा। यदि ऐसा होता तो वह उसका उल्लेख भी अवश्य करते। रस के अन्य व्याख्याताओं ने भी भरत पर किसी दार्शनिक मत के प्रभाव का उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत उनके विवेचन की लौकिकता पर ही बल दिया गया है। [1]

'रस' और 'भोग' आदि शब्दों के प्रयोग से इस प्रकार का संकेत प्राप्त किया जा सकता है कि भरत के रस-विवेचन पर सांख्य-दर्शन का प्रभाव है। किन्तु यह एक दूरारूढ़ प्रयास मात्र ही होगा। उसके कुछ कारणों का उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी शब्द के प्रयोग मात्र से ही किसी सिद्धान्त के दार्शनिक पूर्वाग्रह की उद्भावना करना प्रायः अवैज्ञानिक होगा। क्योंकि 'रस' और 'भोग' आदि शब्द ऐसे शब्द नहीं हैं जिनका सांख्य के अतिरिक्त किसी अन्य क्षेत्र में प्रयोग ही न होता हो। और विशेष कर जब भरत ने स्वयं इस प्रसंग में प्रपानक रस और भात आदि का उदाहरण दिया है तो इससे स्पष्ट है कि उक्त शब्द लौकिक प्रयोग मात्र हैं, किसी विशिष्ट दर्शन के प्रयोग नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि कुछ शब्दों के आधार पर ही किसी काव्यशास्त्री पर किसी दर्शन-विशेष का प्रभाव मान लेना अवैज्ञानिक ही होगा। यह समस्या केवल भरत में ही नहीं वरन् बाद के काव्यशास्त्रियों के अध्ययन में भी प्रस्तुत होती है।

भरत, लोल्लट और शंकुक इन तीनों रस-शास्त्रियों की दृष्टि सामाजिक पर नहीं वरन् नटादि पर रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक की चेतना का विवेचन ही नहीं हुआ। और जब तक सामाजिक की चेतना—

1. **भरत के विषय में कहा है :** "But he has not accounted psychologically and philosophically for the appearance of all the constituents of aesthetic representation in the spectator's consciousness, because he was primarily a dramaturgist and not a philosopher or a psychologist.—Dr. K. C. Pandey. *Comparative Aesthetics*, Vol. I— p. 34.

आत्मा आदि के बारे में किसी चिन्तक के विचार ज्ञात न हों तब तक उन्हें किसी विशिष्ट दार्शनिक मत से प्रभावित मानना अनुचित ही होगा। उदाहरण के लिए हम कबीर, सूर, तुलसी आदि पर किसी एक दार्शनिक मत का विशेष प्रभाव दिखाने में इसीलिए समर्थ हैं कि उन्होंने दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं ईश्वर, सृष्टि, जीव, माया आदि के बारे में विचार किया है। किन्तु साथ ही यह भी विदित ही है कि इसके बावजूद भी उनके दार्शनिक विश्वासों के विषय में विद्वानों में मत-भेद है। भरत आदि ने तो दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं: का उल्लेख तक नहीं किया। इसलिए उन पर किसी विशिष्ट दार्शनिक मत का प्रभाव दिखाना असंभव ही है। उनके रस के स्वरूप-विषयक विचारों के आधार पर यह तो निर्णय किया जा सकता है कि वे यथार्थवादी चिन्तक हैं या विचारवादी। उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि भरत का रस-विवेचन यथार्थवादी है और जैसा कि आगे देखेंगे लोल्लट और शंकुक भी यथार्थवादी ही हैं।

यह प्रश्न हो सकता है कि यह मान लेने पर भी कि भरत पर किसी दार्शनिक मत का प्रभाव नहीं था, क्या यह संभव नहीं कि उनके विवेचन की किसी दार्शनिक मत से समीपता दिखाई जा सके? इसका उत्तर भी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही है। बिना ठोस आधार के ऐसा संभव नहीं है।

तृतीय अध्याय

भट्ट लोल्लट

भट्ट लोल्लट भरत के रस-सूत्र के प्रथम व्याख्याकार हैं। उनका स्वरचित ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। बाद के काव्यशास्त्रियों—अभिनवगुप्त, मम्मट आदि के ग्रंथों में उनका मत उपलब्ध होता है। उन्हीं अंशों के आधार पर ही लोल्लट के मत का विवेचन किया जाता है। भरत के प्रथम व्याख्याकार होने के नाते एक ओर तो इनके विचार भरत के विचारों से बहुत अधिक मिलते हैं, दूसरी ओर उनमें कुछ नवीन संकेत भी लक्षित होते हैं जिन्होंने आगे की व्याख्याओं को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। अन्य काव्य-शास्त्रियों की भाँति इन्होंने भरत के रस-सूत्र को स्वीकार तो किया, मगर उसका स्पष्टीकरण अपनी ही रीति से किया है। रस-निष्पत्ति, रस के आश्रय, रस के स्वरूप आदि के विषय में इन्होंने कई महत्वपूर्ण नई बातें कही हैं।

रस-निष्पत्ति

जैसा कि ऊपर कहा गया है, लोल्लट ने भरत के रस-सूत्र को स्वीकार तो किया किन्तु उसकी अधिक वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की। भरत ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—तीनों का एक साथ उल्लेख कर उनके द्वारा भाव के उपेत हो जाने की चर्चा की है, मगर विभावादि का पृथक्-पृथक्

रूप से भाव के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर वे मौन हैं। लोल्लट की सबसे पहली महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने भाव के साथ इन अवयवों के सम्बन्ध की चर्चा पृथक्-पृथक् रूप से की है।[1] इन्होंने विभाव को भाव की उत्पत्ति का कारण कहा है, अनुभाव को भाव का प्रकाशक और व्यभिचारी को भाव का पोषक। इस प्रकार विभाव (कारण) और भाव में उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध है, अनुभाव (कार्य) और भाव में प्रकाशक-प्रकाश्य सम्बन्ध है तथा व्यभिचारी भाव (सहकारी भाव) और भाव में पोषक-पोष्य सम्बन्ध है। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि भाव ही रस का मूलभूत तत्व है, विभावादि पृथक्-पृथक् रूप से उसे अंकुरित-पल्लवित करते रहते हैं। विभावादि से उपचित भाव ही रस है।[2] और निष्पत्ति का अर्थ हुआ—भाव का विभावादि से उपचित हो जाना। सामान्यतया देखने पर लोल्लट द्वारा दी गई रस-निष्पत्ति की यह व्याख्या भरत द्वारा दी गई रस-निष्पत्ति की व्याख्या से बहुत मिलती-जुलती है क्योंकि भरत के मतानुसार नानाभिनयव्यञ्जित वागङ्ग-सत्त्वोपेत स्थायीभाव ही रस है। अन्तर केवल इतना है कि भरत ने स्थायीभाव को विभावादि से 'उपेत' माना है और लोल्लट ने उसे विभावादि द्वारा 'उपचित' माना है। 'उपेत' की अपेक्षा 'उपचित' शब्द अधिक निश्चित है और रस-विषयक चिन्तन के विकास का परिचायक है। इसके अतिरिक्त भरत और लोल्लट में रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टि से भी भिन्नता पाई जाती है।

लोल्लट ने रस-निष्पत्ति के व्यापार को तीन व्यापारों में विभाजित कर दिया है। पहला व्यापार है 'उत्पत्ति' क्योंकि विभाव भाव को उत्पन्न करते हैं। दूसरा व्यापार है 'प्रतीति' क्योंकि अनुभावों के द्वारा सामाजिक को भाव की प्रतीति होती है। तीसरा व्यापार है 'पुष्टि' क्योंकि व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के पोषक हैं। इन तीनों व्यापारों के संयुक्त प्रभाव से ही रस की निष्पत्ति संभव होती है। अतएव लोल्लट के मत के लिए जो 'उत्पत्तिवाद' शब्द का व्यवहार होता है, वह भ्रामक ही है। क्योंकि इनके

---

१. विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैरत्यादिको भावो जनित: अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः।

—मम्मट : काव्य प्रकाश, पृ० ३५

२. तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः।

—अभिनव भारती, पृ० २७२

मतानुसार निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति नहीं वरन् उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि—तीनों ही उसके अर्थ के अन्तर्गत आजाते हैं। आगे प्रत्येक व्यापार पर अलग-अलग विचार किया जायेगा।

उत्पत्ति—लोल्लट के मत के विरुद्ध एक अत्यन्त प्रबल आक्षेप उत्पत्ति व्यापार को लेकर ही किया जाता है—क्या विभाव वस्तुतः भाव को उत्पन्न करता है, या उसे व्यक्त करता है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए उत्पत्ति व्यापार का दार्शनिक रूप स्पष्ट हो जाना चाहिए। दर्शनशास्त्र में जब यह कहा जाता है कि 'अमुक वस्तु उत्पन्न होती है' तो इसका अर्थ यह होता है कि वह वस्तु एक सर्वथा नवीन वस्तु है, जो किसी भी रूप में—अव्यक्त या बीज रूप में भी पहले विद्यमान नहीं थी। दर्शन में यह सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' कहलाता है जिसका अर्थ यह है कि कार्य के जन्म से पूर्व वह असत् था या उसका सर्वथा अभाव था। अतएव रस-विवेचन में जब लोल्लट ने भाव की उत्पत्ति का उल्लेख किया तो इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पन्न होने से पूर्व भाव का सर्वथा अभाव था, वह व्यक्त या अव्यक्त किसी भी रूप में विद्यमान नहीं था। किन्तु इस प्रकार की धारणा असंगत ही मानी जाएगी 'क्योंकि भाव का सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता।' योग-वेदान्त आदि दर्शनों तथा आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भाव वासना रूप में या बीज रूप में मन में सदैव विद्यमान रहते हैं और अनुकूल परिस्थितियों में अंकुरित हो जाते हैं या व्यक्त हो जाते हैं। अतएव बाद में भाव की उत्पत्ति अग्राह्य सिद्ध हुई।

प्रतीति—रस-निष्पत्ति के अन्तर्गत दूसरा व्यापार है—प्रतीति। अनुभावों के द्वारा भाव की प्रतीति होती है, यह कथन संगत प्रतीत होता है। इस कथन में सामाजिक की सत्ता की स्वीकृति लक्षित होती है क्योंकि प्रतीति करने वाला तो सामाजिक ही होता है। प्रेक्षक नटों के विविध कार्य-व्यापारों से उनके मनोगत भावों को जान लेता है।

इस विषय में एक अन्य बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि भरत ने स्थायी भाव को 'नानाभिनयव्यञ्जित' कहा है और बाद में अभिनव गुप्त ने भी व्यञ्जना को ही रस-विवेचन का आधार बनाया है। आज उसी मत को स्वीकार भी किया जाता है। किन्तु इस मत और उपर्युक्त मत में कोई विरोध नहीं केवल दृष्टि का अन्तर है। 'अनुभाव स्थायी भाव की व्यंजना करते हैं' तथा 'सामाजिक को अनुभावों द्वारा भाव की प्रतीति होती है' दोनों ही कथन संगत हैं। प्रथम कथन में हम अनुभाव की दृष्टि से विचार कर रहे हैं और दूसरे कथन में सामाजिक की दृष्टि से। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि यह लोल्लट के विवेचन का अभाव है कि उन्होंने अनुभावों की

व्यंजना-शक्ति की उपेक्षा की। और रस-निष्पत्ति एवं रसानुभूति के प्रसंग में व्यंजना शक्ति का यथार्थ उपयोग नहीं किया।

अब इस प्रतीति-व्यापार की दार्शनिक व्याख्या की अपेक्षा है। दार्शनिक दृष्टि से प्रतीति एक भ्रमात्मक ज्ञान है क्योंकि इसमें जो सत्ता वस्तुतः कहीं अन्यत्र—मूल नायकादि में थी उसे नटादि में देखा जारहा है। लोल्लट की दृष्टि यद्यपि भरत की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है किन्तु वस्तुतः उसमें भी दार्शनिक सूक्ष्मता एवं पूर्णता का अभाव है। इसीलिए वे 'प्रतीति' शब्द के प्रयोग से ही संन्तुष्ट हो गए। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रतीति भ्रमात्मक ज्ञान ही है। लोल्लट ने इसका कारण 'अनुसन्धान' को माना है। भ्रमात्मक ज्ञान में भी प्रभाव डालने की शक्ति होती है, जैसे रस्सी में सांप का भ्रम ही भय उत्पन्न कर देता है। इसलिए भ्रमात्मक ज्ञान से काव्य में भी हर्षादि की अनुभूति की जा सकती है, यह निर्विवाद है।

पुष्टि—व्यभिचारी भाव स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं, यह मत सर्वथा निर्दोष है और इसे बाद के सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। यह व्याख्या रस-विवेचन के प्रसंग में लोल्लट की स्थायी देन है।

निष्पत्ति की दार्शनिक व्याख्या कुछ अंशों में भरत के समान होते हुए भी नवीनता लिए हुए है। वह यह कि (१) रस में भाव ही मूल तत्व है, और (२) विभावादि की सहायता से भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार भाव की स्पष्ट स्वीकृति उपादान कारण के रूप में कर ली गई है। विभावादि निमित्त कारण के अन्तर्गत आ जाते हैं। उनका कार्य है केवल भाव को उपचित करना। यह उपचित भाव ही रस है। इस प्रकार लोल्लट ने उस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है जो आज तक पूर्णतया मान्य है।

भरत में हमने अभिनयादि और रस में जो अंगागि भाव माना था, वह लोल्लट में उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि यहाँ भी सिद्धान्त रूप से विभावादि रस के अवयव हैं किन्तु वस्तुतः वे अवयव न होकर निमित्त कारण के रूप में ही गृहीत है क्योंकि रस—'उपचित भाव'—में वे लय हो जाते हैं। वे 'भाव' को उपेत नहीं करते, केवल उपचित करके ही रह जाते हैं। इस प्रकार लोल्लट का रस एक संसृष्टि न होकर व्यष्टि ही है। इसे परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया।

उपेत' और '**उपचित**'—दोनों शब्दों के अर्थों में एक सूक्ष्म अन्तर है। जब हम कहते हैं कि 'विभावादि से उपेत भाव रस है' तो इसका अभिप्राय यह कि रस में भाव एवं विभावादि सब की सत्ता है, स्थायीभाव विभावादि से

युक्त है। अतः रस एक संसृष्टि है जिसमें भाव एवं विभावादि का संयोग है। किन्तु 'उपचित' शब्द के अर्थ में यह भाव नहीं है। यहाँ विभावादि भाव को उपचित, पुष्ट करके स्वयं लीन हो जाते हैं। रस भाव और विभावादि का संयोग नहीं है वरन् विभावादि द्वारा पुष्ट भाव ही है। इस अवस्था में सामाजिक को पुष्ट भाव की ही चेतना रह जाती है, विभावादि की चेतना का लोप हो जाता है। यह मत परवर्ती मत के अधिक अनुकूल है।

रस का स्वरूप

भरत मुनि ने रस को पदार्थ माना था। किन्तु लोल्लट ने रस के स्वरूप के विषय में युगान्तर प्रस्तुत किया। उन्होंने रस को पदार्थ नहीं, अनुभूति माना।[1] बाद के सभी आचार्यों ने भी रस को अनुभूति मानकर ही उसकी व्याख्या का उपक्रम किया है। इस दृष्टि से देखते हुए लोल्लट का महत्व स्वतः सिद्ध है। इसी प्रसंग में उन्होंने भाव और रस के भेद को भी स्पष्ट किया है। विभावादि से उपचित स्थायी भाव रस है; सामान्यतः स्थायीभाव विभावादि से अनुपचित ही रहता है। किन्तु इस अन्तर का उल्लेख भर कर देने से ही समस्या का समाधान नहीं होता। इसका और अधिक विवेचन अपेक्षित है। हो सकता है कि उन्होंने विवेचन किया भी हो जो बाद के आचार्यों ने न दिया हो। किन्तु भाव और रस में स्पष्ट अन्तर करने पर भी लोल्लट की भाव की व्याख्या ग्राह्य नहीं हो सकती, क्योंकि उन्होंने अव्यक्त वासना को ही भाव माना है जो विभावादि द्वारा व्यक्त-पुष्ट होकर रस कहलाती है। अतएव जिसे आज हम सामान्यतया भाव की व्यक्त अवस्था कहते हैं, वही लोल्लट के लिए रस है। वासना को भाव कहना और उसके व्यक्त रूप को रस कहना किसी भी प्रकार से संगत नहीं है। इसी असंगति को आधार बनाकर शंकुक ने लोल्लट पर आक्षेप किए हैं जिनकी चर्चा आगे की जाएगी।

रसानुभूति सुखात्मक है या दुखात्मक ? इस विषय में लोल्लट की कोई उक्ति नहीं उपलब्ध होती। ऐसी अवस्था में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस विषय में उन्हें भरत का मत ही ग्राह्य था।

दार्शनिक दृष्टि से देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि लोल्लट की यह

---

१. **तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौकारणम्।...स्थायी भवत्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्या वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि अनुसन्धान बलात्।**

—अभिनव भारती, पृ० २७२

मान्यता कि रस एक अनुभूति या उसकी प्रतीति है, विचारवादी दर्शन के अनुकूल है। किन्तु लोल्लट में इस सिद्धान्त का कोई ठोस आधार या दार्शनिक विश्लेषण नहीं है। यह कार्य बाद में संपन्न हुआ।

रस का आश्रय

लोल्लट के मतानुसार रस का आश्रय अनुकार्य[1] ही है। अनुकर्त्ता में रस की प्रतीति होती है, वास्तविक स्थिति नहीं। नटादि में इस रस-प्रतीति का साधन है अनुसन्धान। अनुसन्धान की व्याख्या आगे की गई है। यहाँ इतना संकेत कर देना उपयोगी होगा कि अनुसन्धान का व्यापार द्विविध है। एक ओर तो उसके बल से नट में नायक की प्रतीति होती है (रामत्वादि का आरोप होता है), और दूसरी ओर नट में नायकादि की अनुभूति की प्रतीति होती है। यदि पिछले विवेचन को भी ध्यान में रखा जाए तो ज्ञात होगा कि नट में अनुभूति की प्रतीति कराने वाले दो साधन हुए—(१) अनुभाव, (२) अनुसन्धान। इन दोनों साधनों में परस्पर कोई विरोध नहीं वरन् दोनों ही परस्पर पूरक हैं। अन्तर इतना है कि अनुभाव नट और सामाजिक के बीच सम्बन्ध स्थापित कराता है और अनुसंधान एक पग और पीछे जाकर नायक नट और सामाजिक के बीच सम्बन्ध स्थापित कराता है। कालक्रम की दृष्टि से अनुसन्धान का कार्य अनुभाव के कार्य से पहले ही आरंभ हो जाता है। क्योंकि सामाजिक जब तक नट में रामत्वादि का आरोप नहीं कर लेता, तब तक वह नाटक के दर्शन में तल्लीन ही नहीं हो सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते हुए सिद्ध होता है कि अनुभावों का ज्ञान और अनुसन्धान संश्लिष्ट रूप से कार्य करते हुए सामाजिक को नायक की अनुभूति की प्रतीति (नट में) कराते हैं।

यदि लोल्लट का यह मत स्वीकार कर लिया जाए कि नायकादि की अनुभूति ही रसानुभूति है, तो फिर यह मानना पड़ेगा कि लोकानुभूति और काव्यानुभूति में कोई अन्तर नहीं। लोक और काव्य की अनुभूति के परस्पर सम्बन्ध की समस्या अत्यंत प्राचीन होते हुए भी चिर नवीन है क्योंकि इस विषय को लेकर आज भी विभिन्न मतों की प्रतिष्ठा की जाती है। इस सम्बन्ध में लोल्लट के जो उद्धरण हमें विविध काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं उनके आधार पर यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्होंने जो लोक और काव्य की अनुभूतियों को एक ही

---

१. तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भवत्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धान बलात्।

कोटि में रख दिया है, तो क्या यह उनके सूक्ष्म चिन्तन का परिणाम है, अथवा एक सहज उक्ति है ? क्या उनका ध्यान इन दोनों अनुभूतियों के तारतम्य की समस्या की ओर आकृष्ट भी हुआ था या नहीं ? लोल्लट के बाद शंकुक ने लोकानुभूति और काव्यानुभूति में अन्तर करने का प्रयास किया और भट्टनायक आदि ने तो काव्यानुभूति को बिल्कुल ही ब्रह्मानुभूति के समकक्ष रखने का उपक्रम किया।

रसास्वाद

भरत के मत के विवेचन में यह कहा गया था कि वहाँ रस-विवेचन के प्रसंग में सामाजिक की सत्ता को अपेक्षित महत्व नहीं मिला। यही बात लोल्लट के रस-विवेचन के विषय में भी कही जा सकती है। यद्यपि 'प्रतीति', अनुसंधान' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि लोल्लट का ध्यान सामाजिक की ओर था किन्तु फिर भी उनकी दृष्टि का केन्द्र सामाजिक नहीं, नायक और नट ही रहे। इस विषय में जो सीमा भरत की रही वही लोल्लट की भी है और वही श्री शंकुक की भी रही। लोल्लट के मतानुसार सामाजिक को नट में रस की प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रतीति सुखमय है, दुखमय है, या चमत्कारपूर्ण है ? इस सम्बन्ध में कोई विवेचन नहीं। वस्तुतः लोल्लट के विवेचन का सबसे अधिक दुर्बल पक्ष यही है। नट में रस की प्रतीति से क्या सिद्ध होता है ? या इसका क्या फल होता है ? इसका कोई उत्तर उन्होंने नहीं दिया। और यह सिद्ध है कि प्रतीति मात्र से ही कोई गंभीर अनुभूति नहीं होती। यद्यपि जीवन में ऐसा होता है कि एक वस्तु में दूसरी की प्रतीति से क्रिया और भाव का जन्म हो जाता है जैसे सर्प-रज्जु भ्रम से, किन्तु भ्रम पर आधारित अनुभूति तभी तक रहती है जब तक भ्रम रहता है और भ्रम के नष्ट हो जाने पर वह नष्ट ही नहीं होती वरन् हास्यास्पद हो जाती है। इसलिए भ्रम या प्रतीति के आधार पर सामाजिक की अनुभूति का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

लोल्लट का यह 'प्रतीति सिद्धान्त' कई रूपों में बहुत देर तक चलता रहा। श्री शंकुक में, पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा दिए गए नव्य मत और भावना-दोष मत में इसी सिद्धान्त का विस्तार मिलता है। उनका विवेचन आगे किया जाएगा।

दार्शनिक दृष्टि से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भरत के समान लोल्लट में भी रसास्वाद की यथार्थवादी प्रक्रिया ही लक्षित होती है। अन्तर इतना है कि भरत के अनुसार सामाजिक पदार्थ रूप रस का आस्वाद करता है और लोल्लट के अनुसार अनुभूति रूप रस का। वह अनुभूति चाहे भ्रमजनित

ही है, फिर भी उसका आस्वाद तो हो ही सकता है। किन्तु एक बात स्पष्ट है। पदार्थ के आस्वाद–मानसिक ही सही–की अपेक्षा किसी की अनुभूति का आस्वाद अधिक सूक्ष्म और कठिन है। इस समस्या पर जिस गहराई से विवेचन होना चाहिएं वह लोल्लट के प्राप्त उद्धरणों में नहीं मिलता। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि सामाजिक नट की प्रदर्शित अनुभूति का जो आस्वाद करता है वह कहाँ तक उस अनुभूति के अनुकूल है ? क्या वह आस्वाद उस अनुभूति से भिन्न है, उसकी प्रतिक्रिया है ? या उसके अनुकूल है ? स्पष्टतः इस प्रश्न का उत्तर साधारणीकरण में है जिसकी प्रतिष्ठा बाद में भट्ट नायक द्वारा हुई। लोल्लट का ध्यान इस ओर नहीं गया।

नट में नायक का ज्ञान

लोल्लट ने नाट्यशास्त्र की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या को सबसे पहली बार उठाया और वह यह कि सामाजिक को नट में नायकादि का ज्ञान कैसे होता है ? भरत में इस समस्या का कोई संकेत नहीं। यह लोल्लट की मौलिक देन है। पश्चिम में आज भी इस समस्या को लेकर विविध प्रकार से विचार किया जा रहा है। अतएव यह समस्या इतनी पुरानी होते हुए भी चिर नवीन है।

लोल्लट ने इस समस्या का समाधान 'अनुसन्धान' के व्यापार के द्वारा किया है। काव्यप्रकाश की नागेश्वरी टीका में इसके दो अर्थ दिए गए हैं। प्रथम नर्त्तक या काव्यपाठक में रामत्व का आरोप या सामाजिक में रामत्व का अभिमान।[1] जगन्नाथ[2] ने अनुसन्धान के स्थान पर 'आरोप' का ही प्रयोग किया है। लोल्लट ने अनुसन्धान का प्रयोग नट पर रामत्वादि के आरोप के अर्थ में ही किया होगा, ऐसा संभव है। क्योंकि जैसा कि पहले कहा गया है, उनकी दृष्टि नट और नायक पर ही केन्द्रित रही, सामाजिक पर नहीं। इससे सिद्ध है कि लोल्लट के अनुसार नट में नायक के ज्ञान का आधार, तथा नट में नायक की अनुभूति का आधार सामाजिक की प्रतीति या भ्रम ही है। सामाजिक जब नाटक देखने के लिए जाता है तो वह आरंभ से ही इसके लिए तैयार होकर

---

१. **तद्रूपतानुसन्धानात् रामस्येव वेषविशेषादिविधायिनि नर्त्तके काव्यपाठके वा तात्कालिक रामत्वारोपाद् रामत्वाभिमानाद्वा।**

—(काव्य प्रकाश) नागेश्वरी टीका, पृ० ३५

२. **दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते।**

—जगन्नाथ-रसगंगाधर, पृ० ११३

जाता है क्योंकि वह जानता है कि वह लोक से भिन्न कला के संसार में जा रहा है जहाँ उसे लौकिक प्रत्यय को भूल कर कला-संसार के नियम के आधीन नट में नायकादि का आरोप करना होगा ।

अनुसन्धान का प्रयोग व्यापार के लिए भी किया गया है; जैसे—'अनुसन्धान के बल से नटादि में रामादि की प्रतीति' और फल के लिए भी—'सामाजिक नटादि में रामादि का अनुसन्धान करता है ।' द्वितीय अर्थ में तो वह प्रतीति ही है । प्रथम प्रयोग में वह एक शक्ति या व्यापार है । प्रश्न हो सकता है कि यह शक्ति किसकी है—कवि की, नट की या सामाजिक की ? वस्तुतः यह नट की ही शक्ति है जिसका आधार है सफल सशक्त अभिनय ; जिसके भाव में यह प्रतीति होती है और अभाव में नहीं होती ।

यदि अनुसन्धान का अर्थ 'आरोप' ही कर लिया जाए तो वह एक मिथ्या ज्ञान ही होगा, जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है ।

शंकुक द्वारा लोल्लट का खण्डन

अभिनव भारती में शंकुक का मत देने से पूर्व इनके द्वारा लोल्लट के मत का खंडन सविस्तार दिया गया है । उन युक्तियों का उल्लेख करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि लोल्लट ने भाव की सत्ता को वासना रूप, अव्यक्त ही माना है, व्यक्त नहीं, क्योंकि जैसे ही यह वासना विभावादि के संयोग से व्यक्त और पुष्ट होती है वह रस रूप हो जाती है । इसके विपरीत विभावादि से व्यक्त-पुष्ट वासना को ही शंकुक ने भाव कहा है । अतएव स्पष्ट है कि लोल्लट और शंकुक दोनों की दी हुई भाव की व्याख्याएँ अलग-अलग है । शंकुक का "भाव" लोल्लट का "रस" है । यद्यपि लोल्लट ने "भाव" (वासना), और रस में अन्तर किया है किन्तु शंकुक की दृष्टि में जो भाव है वही लोल्लट का "रस" है । इसी आधार पर शंकुक ने लोल्लट के खंडन में निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं :

(१) विभावादि द्वारा उपचित भाव को रस नहीं, भाव ही कहना चाहिए क्योंकि अगर उसे रस कहा गया तो फिर भाव की प्रतीति असम्भव हो जाएगी । कारण यह है कि लोल्लट के मत से तो भाव वासना रूप ही है और विभावादि का संयोग होने पर वह रस रूप हो जाता है । तो सामाजिक को नट के भाव की, जो कि अव्यक्त और वासना रूप है, कभी प्रतीति नहीं हो सकती ।[1]

---

१. **विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेः**

—अभिनव, पृ० २७२

(२) और यदि यह माना जाए कि केवल शब्द से ही भाव की प्रतीति हो जाएगी तो यह भी उचित नहीं।[1] क्योंकि शब्द से भाव का ज्ञान तो हो सकता है, उसकी प्रतीति नहीं। शंकुक के मत में भाव अभिधेय नहीं हो सकता। 'प्रेम' कह देने से प्रेम की अनुभूति नहीं होती। और यह मत संगत है।

(३) विभावादि के प्रयोग में पहले "भाव"[2] की स्थिति मानी जाए तो फिर "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" जो सूत्र है इस लक्षण की कोई आवश्यकता नहीं।[3] स्पष्टतः यह आक्षेप भ्रम पर आधारित है और इसका कारण यह है कि शंकुक अपने 'भाव' और लोल्लट के 'भाव' के अन्तर को स्पष्ट नहीं कर पाए और अपनी दृष्टि से ही यह आक्षेप लोल्लट पर लाद रहे हैं। यहाँ 'भाव' शब्द द्वयर्थक है—एक वासना रूप (लोल्लट वाला अर्थ), दूसरा व्यक्त रूप (शंकुक वाला अर्थ)।

(४) यदि रति आदि "भावों" को ही रस माना जाए तो जिस प्रकार रति-भाव मन्द, तर, तम, मध्यम आदि कई भेदों का होता है उसी प्रकार शृंगार रस के भी उतने ही भेद मानने पड़ेंगे।[4]

(५) और यदि रस की एकतानता के आधार पर भाव को मन्द, तर, तम, मध्यम आदि न मानकर एकतान ही माना जाए तो फिर हास्यरस के भेदों की स्वीकृति असंगत सिद्ध हो जाएगी और यदि भाव के तारतम्य के आधार पर रस में तारतम्य स्वीकार करें तो फिर काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस मानने होंगे।[5] वस्तुतः 'भाव' और 'रस' में भेद मानना ही होगा।

(६) शोक का भाव आरम्भ में तीव्र होता है और फिर धीरे-धीरे उसकी तीव्रता हल्की होती जाती है। ऐसी अवस्था में यदि "भाव" को ही रस माना जाएगा, तो यह विषमता उत्पन्न हो जाएगी कि करुण रस "भाव" से अधिक शक्तिशाली न होकर दुर्बल हो जाएगा जो कि अनुभव से असिद्ध है।[6]

---

१. भावानां पूर्वमभिधेयता प्रसंगात् —अभिनव, पृ० २७२

२. "भाव" से अभिप्राय है शंकुक का भाव और लोल्लट का रस।

३. स्थितिदशायां लक्षणान्तर वैयर्थ्यात्। —वही, पृ० २७२

४ मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः

—वही, पृ० २७२

५. हास्यरसे षोढत्वाभाव प्राप्तेः, कामवस्थासु दशस्व संख्यरस भावादि प्रसंगात्। —वही, पृ० २७२

६ शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनु मान्द्यदर्शनं,

—वही, पृ० २७२

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि लोल्लट की मूल दृष्टि भरत के समान ही यथार्थवादी थी क्योंकि उन्होंने सामाजिक से निरपेक्ष रूप में रस की सत्ता को स्वीकार किया। जब हम यह देखने की चेष्टा करते हैं कि लोल्लट किस दर्शन-विशेष से प्रभावित थे तो हमें यह जानने के लिए उपयुक्त आधार प्राप्त नहीं होता और वैसी ही स्थिति मिलती है जैसी कि भरत में थी। किन्तु फिर भी विद्वानों में इस विषय में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार वे मीमांसक थे।[1] श्यामसुन्दरदास तथा रामदहिन मिश्र आदि ऐसा ही मानते हैं। किन्तु उन्होंने अपने इस मत के कारणों पर प्रकाश नहीं डाला। वस्तुतः इस मान्यता को मत की अपेक्षा किंवदन्ती कहना ही उपयुक्त होगा क्योंकि लोल्लट के रस-विवेचन में एक भी ऐसा संकेत नहीं मिलता जिसके आधार पर उन्हें मीमांसक कहा जा सके। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि उन्हें मीमांसक फिर भी क्यों कहा जाता है। दो ही कल्पित कारणों की ओर ध्यान जाता है। प्रथम यह कि लोल्लट का पूरा ग्रंथ प्राप्त नहीं होता केवल कुछ उद्धरण ही मिलते हैं। सम्भव है कि उनके ग्रंथ के अन्य खण्डों में कहीं कोई मीमांसा का प्रभाव हो। किन्तु रस-विवेचन पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं है और इसलिए यदि ऐसा सत्य भी हो तो उसके मेरे प्रयास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उक्त किंवदन्ती का दूसरा आधार यह हो सकता है कि लोल्लट ने मीमांसा-दर्शन पर कोई ग्रंथ लिखा हो। किन्तु ऐसा कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। और यदि उन्होंने कोई ऐसा ग्रंथ लिखा भी हो तो भी उससे हमारे विषय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि रस-विवेचन में मीमांसा-दर्शन का कोई प्रभाव नहीं है। अतः यह मान्यता कि लोल्लट मीमांसक थे, सर्वथा निराधार है।

लोल्लट के विषय में दूसरा मत यह है कि वे शैव थे। यह मान्यता उपर्युक्त मान्यता की अपेक्षा अधिक ठोस आधार पर है। इस मत का एक प्रमाण तो यह दिया जाता है कि लोल्लट ने भरत के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त स्पन्द-कारिका पर भी टीका लिखी थी। और दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है कि लोल्लट ने 'अनुसन्धान' शब्द शैव दर्शन से—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका और विमर्शिनी—से लिया है।[2] किन्तु यह प्रमाण स्वयं अपने आप में पूर्णरूप से पुष्ट नहीं है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि अनुसन्धान का प्रयोग 'अभिमान' और 'आरोप' के अर्थ में भी होता है और दूसरा यह कि लोल्लट का

१. रामदहिन मिश्र—**काव्य-दर्पण**, पृ०, ११५

2. Dr. K. C. Pandey : *Comparativ Aesthetics*—pp. 28-29.
डा० सत्यव्रत सिंह—**काव्य-प्रकाश (टीका)**, पृ० ६८

सम्बन्ध स्पन्द-कारिका से ही माना गया है न कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका से। अभिनवगुप्त तो लोल्लट के बाद के हैं इसलिए उनकी यह व्याख्या—'एकीभावरूपमनुसन्धानम्'—लोल्लट के प्रसंग में नहीं ग्रहण की जा सकती। किन्तु एक बात स्पष्ट है, और वह यह कि लोल्लट को शैव-दर्शन का ज्ञान था। फिर भी साथ ही यह भी देखना चाहिए कि रस-विवेचन में उन्होंने उसका कहाँ तक उपयोग किया है। मान लीजिए यदि उन्होंने 'अनुसन्धान' शब्द ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका से ही ग्रहण किया हो, तो यह उन पर शैव-दर्शन के अल्प प्रभाव का ही सूचक होगा। डा० पाँडे ने यह सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की कि 'अनुसन्धान' को शैव-दर्शन का शब्द ही क्यों माना जाए ? 'स्पन्द कारिका' पर टीका लिखना इसका कोई प्रमाण नहीं हो सकता, और स्पन्द कारिका में इस शब्द का प्रयोग भी नहीं हुआ।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका और उसकी व्याख्या में दिए गए 'अनुसन्धान' के अर्थ का विश्लेषण करने पर यह सिद्ध होता है कि लोल्लट ने 'अनुसन्धान' का प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया। योजना का अर्थ है किसी व्यक्ति का यह ज्ञान कि—"जो मैं बालक था वही अब मैं युवा हूँ।" नट के लिए योजना का अर्थ होगा—"जो मैं नट था वही अब मैं राम हूँ" अथवा "मैं राम हूँ।"[1] इस अर्थ में अनुसन्धान का अर्थ नट के इस ज्ञान तक ही सीमित है। उसे सामाजिक के नट-विषयक ज्ञान—नट में रामत्व के 'आरोप'—तक नहीं खींचा जा सकता। लोल्लट की रस-सम्बन्धी उक्ति देखने से स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने 'अनुसन्धान' शब्द का प्रयोग सामाजिक को लक्ष्य करके किया है, नट को लक्ष्य करके नहीं। " 'रामादितद्रूपतानुसन्धानवलात्' नट में भी रस विद्यमान होता है"—इसकी संगत व्याख्या यही होगी कि सामाजिक को अनुसन्धान के बल से नट में भी रस की प्रतीति होती है। अतएव यहाँ अनुसन्धान का अर्थ 'रामत्व का आरोप' ही लेना पड़ेगा न कि राम की योजना। क्योंकि योजना का ज्ञान तो नट तक ही सीमित है। हो सकता है कि नट को यह ज्ञान हो जाए कि 'मैं राम हूँ।' किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सामाजिक भी उसे ऐसा समझ लें। सामाजिक को तो नट में रामत्व के आरोप से ही उसमें राम की प्रतीति होगी। अतः लोल्लट के रस-विवेचन पर शैव-दर्शन का भी कोई प्रभाव नहीं है। यह संभव है कि वे शैव हों किन्तु उन्होंने रस-विवेचन में शैव-सिद्धान्तों का कोई प्रयोग नहीं किया। अतएव भट्ट लोल्लट में भी हमें भरत की यथार्थवादी रस-दृष्टि का ही सहज विकास लक्षित होता है। उनकी दार्शनिक दृष्टि को यथार्थवाद से आगे मीमांसा आदि तक खींचना असंगत ही होगा।

१. डा० सत्यव्रत सिंह—**काव्य-प्रकाश (टीका)**, पृ० ६८

चतुर्थ अध्याय

श्री शंकुक

श्री शंकुक ने रस-निष्पत्ति और रस के स्वरूप की व्याख्या करते हुए दो मौलिक व्यापारों का उल्लेख किया है। प्रथम है **अनुकृति**, और द्वितीय है **अनुमिति**। उनके मतानुसार जब नट विभावों, अनुभावों और व्यभिचारीभावों का अनुकरण करता है, तो अनुकरण की पूर्णता एवं निर्दोषता के कारण सामाजिक को नट में भी रामादि के स्थायीभाव की अनुमिति हो जाती है। और इस अनुमिति से ही सामाजिक को आनन्द की उपलब्धि होती है।[1] यद्यपि सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि रस-निष्पत्ति और रसास्वाद आदि की व्याख्या करने के लिए शंकुक ने दो व्यापारों की कल्पना की है, मगर वस्तुतः वे दोनों व्यापार परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और अन्योन्याश्रित हैं। जब तक अनुकृति निर्दोष और पूर्ण नहीं होगी, तब तक सामाजिक को अनुमिति भी नहीं हो सकती। अलग-अलग इन दोनों व्यापारों की दृष्टि से देखते हुए रस को अनुकार्य भी कहा जा सकता है और अनुमेय भी। यद्यपि दोनों व्यापारों का साध्य एक

---

१. **तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगत स्थाय्यनुकरणरूपः।**

—अभिनव०, पृ० २७२

ही है—रस, तथापि दोनों का सम्बन्ध दो भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों के साथ है। अनुकरण का सम्बन्ध है नट के साथ और अनुमिति का सम्बन्ध है सामाजिक के साथ। अतएंव हम यह भी कह सकते हैं कि नट की दृष्टि से रस अनुकार्य है और सामाजिक की दृष्टि से अनुमेय। इनमें अनुकृति का विवेचन रस-निष्पत्ति में किया जाएगा और अनुमिति का रसास्वाद में।

रस-निष्पत्ति

प्रायः यह कहा जाता है कि शंकुक के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ है अनुमिति। किन्तु यह कथन भ्रामक है। क्योंकि अनुमिति का सम्बन्ध रसास्वाद के साथ है, न कि रस-निष्पत्ति के साथ। वस्तुतः शंकुक के मतानुसार निष्पत्ति का अर्थ है अनुकृति। जब नट विभावादि का सफल अनुकरण करने में समर्थ हो जाता है, स्थायीभाव की अनुकृति[1]—रस—को प्रस्तुत कर देता है, रस-निष्पत्ति हो जाती है। यदि अनुमिति को ही निष्पत्ति माना जाए, तो दो शंकाएँ उत्पन्न होती हैं—

प्रथम—यदि कोई सामाजिक इतना सुमनस नहीं कि वह किसी भी नाटक के दर्शन में रस की अनुमिति कर सके तो यह मानना पड़ेगा कि वहाँ रस-निष्पन्न ही नहीं हुआ। स्पष्टतः यह मान्यता असंगत है।

द्वितीय—अनुभूति का सम्बन्ध निष्पत्ति से नहीं, रसास्वाद से है।

जब रस अनुकृति है, तो विभावादि इस अनुकृति की सिद्धि के साधन हैं। अतएव विभावादि को अनुकारक कहा जा सकता है। किन्तु विभावादि को अनुमापक या गमक भी कहा जाता है—गम्य गमक रूपत्वात् अनुमीयमानोऽपि ....। यह प्रयोग सामाजिक को दृष्टि में रखकर किया गया है क्योंकि सामाजिक के लिए तो रस अनुमेय है और विभावादि अनुमापक। किन्तु गम्य-गमक संयोग रस-निष्पत्ति के प्रसंग में अमान्य है। अतएव स्पष्ट है कि विभावादि और स्थायीभाव (रस) के संयोग की चर्चा करते हुए हमें द्विविध दृष्टि अपनानी होगी—

प्रथम—नट की दृष्टि से विभावादि अनुकारक हैं और स्थायीभाव अनुकार्य।

द्वितीय—सामाजिक की दृष्टि से विभावादि गमक या अनुमापक हैं और रस गम्य या अनुमेय।

---

१. **अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।**

—अभिनव, पृ० २७२

प्रथम का सम्बन्ध रस-निष्पत्ति के साथ है और द्वितीय का सम्बन्ध रसास्वाद के साथ।

शंकुक ने रस-विवेचन में अनुकरण पर पर्याप्त बल दिया है। उन्होंने न केवल रस को अनुकृति कहा है, वरन् साथ ही इस बात का भी विवेचन किया है कि यह अनुकृति कैसे सफल हो सकती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने नट की शिक्षा और अभ्यास या अनुभव का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] बिना उपयुक्त शिक्षा के कोई भी सफल नट नहीं बन सकता। इसके साथ-साथ व्यभिचारियों के प्रदर्शन के लिए कृत्रिम रूप से अनुभावों के प्रदर्शन का अभ्यास होना चाहिए। इस प्रकार नट की स्थिति एक विलक्षण स्थिति है। उसे अनुभावादि का प्रदर्शन इस रूप में करना होता है कि वे वस्तुतः उसके अपने न होते हुए भी उसके अपने से लगें। कृत्रिम होते हुए भी उसके अनुकरण में कृत्रिमता का आभास नहीं होना चाहिए। यह विरोधाभास नाटक के क्षेत्र में तो है ही और इसको मिटाने के लिए शंकुक ने नट के अनुकरण की स्वाभाविकता पर बल दिया है।

किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है जिसका सम्बन्ध सामाजिक के साथ है। और वह यह कि इस विरोधाभास को दूर करने में जिस प्रकार नट का हाथ है उसी प्रकार सामाजिक का भी। नाटकादि का प्रदर्शन देखने के लिए जाने से पूर्व ही सामाजिक यह बात जानता है कि वह कला के संसार में जा रहा है, जहाँ के नियम इस संसार के नियमों से भिन्न हैं और इसलिए उसका मन कृत्रिम को भी अकृत्रिम रूप में ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत होकर जाता है। पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में इस पक्ष पर भी पर्याप्त बल दिया जा रहा है।

ग्रीक आलोचना-शास्त्र में सर्वप्रथम प्लेटो ने साहित्य के विवेचन के प्रसंग में अनुकरण व्यापार की चर्चा की। उसके बाद अरस्तू ने उसे अनुकरण-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसका प्रभाव आज तक पाश्चात्य आलोचना में लक्षित होता है, यद्यपि उसकी विविध नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। हमारे काव्यशास्त्र में नायक के विवेचन में अनुकरण का महत्व बड़े निर्भ्रान्त शब्दों में स्वीकार किया गया है—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। और शंकुक ने रस को अनुकृति माना है। प्रस्तुत प्रसंग में शंकुक के अनुकरण व्यापार तथा प्लेटो और अरस्तू के अनुकरण व्यापार की तुलनात्मक समीक्षा से आगे जाने का अवकाश नहीं।

इस संबंध में पहली बात तो यह है कि शंकुक के अनुकरण व्यापार का

---

१. **अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणःकृत्रिमनिजानुभावर्जन बलात्।**
—अभिनव, पृ० २७२-७३

सीमा क्षेत्र केवल रस है और प्लेटो तथा अरस्तू ने समूचे साहित्य की व्याख्या एवं मूल्यांकन के लिए अनुकरण सिद्धान्त को आधार बनाया है।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि प्लेटो का अनुकरण-सिद्धान्त उसके दर्शन-विशेष पर आधारित है। प्लेटो ने सृष्टि को मूल सत्य की अनुकृति माना है और साहित्य उस अनुकृति की भी अनुकृति है। इसी आधार पर प्लेटो ने साहित्य का विरोध किया है। किन्तु शंकुक का अनुकरण व्यापार किसी दर्शन-विशेष पर आश्रित नहीं है। उन्होंने उसे एक नाट्य-व्यापार के रूप में ही ग्रहण किया है। इसी प्रकार प्लेटो के बाद अरस्तू ने जब अनुकरण-सिद्धान्त को ग्रहण किया तो उसे दार्शनिक धरातल पर न रख कर साहित्य के धरातल पर ही रखा। अतएव मूल दृष्टि को देखते हुए शंकुक और अरस्तू में समानता है, और प्लेटो इन दोनों से भिन्न हैं।

तीसरी बात यह है कि अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त उसी रूप में बाद के काव्यशास्त्रियों को मान्य नहीं हुआ और बदलते हुए युगीन मूल्यों के प्रकाश में उसकी नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाने लगीं। किन्तु शंकुक का यह मत कि रस अनुकृति है, बाद के भारतीय आचार्यों के द्वारा पूर्णतया खंडित किया गया और आज उसका महत्व केवल ऐतिहासिक है। फिर भी एक बात स्पष्ट है, और वह यह कि साहित्य में—विशेषकर नाटक में अनुकरण का पर्याप्त महत्व है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस व्यापार की यथोचित सीमाओं का निर्देश किया जाए। उदाहरण के लिए यह तो सभी मानते हैं कि नट के लिए अनुकरण में दक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है। पर शंकुक की यह मान्यता कि रस स्थायीभाव की अनुकृति है, स्वीकार नहीं की जा सकती। केवल इतना ही माना जा सकता है कि नट नायकादि के भावों का अनुकरण करता है। इसी प्रकार अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त के विषय में भी यह नहीं माना जा सकता कि साहित्य प्रकृति की यंत्रवत् अनुकृति है। उसमें साहित्यकार के सक्रिय व्यक्तित्व की छाप को स्वीकार करना आवश्यक है।

दार्शनिक व्याख्या :

अनुकृति एक ऐसी अवधारणा है जिसका विवेचन भारतीय दर्शन में नहीं हुआ। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी भी भारतीय दार्शनिक दृष्टि से उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रकार के प्रयास में अपेक्षित यह है कि अनुकृति की व्याख्या उसकी निकटवर्ती किसी अवधारणा की तुलना में की जाए। दूसरी बात यह है कि यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने अनुकृति को ही अपने

दर्शन का आधार बनाया था। यद्यपि उसने भी अनुकृति की व्याख्या विस्तार-पूर्वक नहीं की फिर भी उसने जो कुछ कहा है उसके आधार पर उसके अनुकृति-सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

प्लेटो के मत में यह सृष्टि सत्य नहीं है। सत्य तो वस्तुतः वे विचार हैं जो ईश्वर की चेतना में विराजमान हैं। प्लेटो की मान्यता है कि इस संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब विचार रूप में ईश्वर में विद्यमान हैं और सृष्टि की वस्तुओं का निर्माण उन विचारों की भौतिक अनुकृति के फलस्वरूप हुआ है। उदाहरण के लिए ईश्वर में कमल का एक विचार है जो आदर्श है। उसी की अनुकृति के फलस्वरूप असंख्य कमलों की सृष्टि होती है। संक्षेप में प्लेटो के अनुसार सृष्टि का क्रम यह है :—

शिव का विचार एक परम विचार है, उसी से अन्य विचारों का उदय होता है और फिर ईश्वर उन विचारों को पदार्थ में मूर्त्तित करता है—वैसे ही जैसे कि एक कवि अपने विचारों के अनुरूप अपनी कृति का निर्माण करता है।[1] किन्तु विचार-सृष्टि और पदार्थ-सृष्टि में मूलभूत अन्तर है। वह यह कि प्रथम शाश्वत, सनातन सत्य है, द्वितीय परिवर्तनशील एवं नश्वर है। इसलिए पदार्थ-सृष्टि एक निम्नकोटि का सत्य है, जो अपूर्ण, भ्रमात्मक एवं नश्वर है। अनुकृति व्यापार में ही एक सहज अपूर्णता रहती है। चाहे कोई कितनी ही चेष्टा करे, वह अनुकार्य की पूर्ण अनुकृति करने में असमर्थ ही रहेगा। यह अनुकृति व्यापार का दोष है।

उपर्युक्त विवेचन में दो बातों की ओर संकेत किया गया है। **प्रथम**—अनुकार्य और अनुकृति का द्वैत, द्वितीय—अनुकृति व्यापार की अपूर्णता। इन दोनों बातों के आधार पर शंकुक के रस-सम्बन्धी विचारों की समीक्षा की जा सकती है। वे अनुकार्य—स्थायी भाव, और अनुकृति–रस दोनों को भिन्न-भिन्न नाम देते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे दोनों के तात्त्विक अन्तर को पूर्णतः समझ नहीं पाये। उनकी यह उक्ति कि—'अनुकरण रूप होने के कारण ही स्थायीभाव को अन्य नाम—रस दिया गया है', इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती है कि वह अनुकार्य—भाव और अनुकृति—रस में केवल नाम का ही अन्तर मानते हैं। किन्तु आगे की उक्ति में 'अनुक्रियमाण रति ही श्रृङ्गार' है तथा

1. "God contemplates the Ideas, the eternal archetypes of things, but contemplates them as a poet does his ideas, i. e. generating them himself (Rep.) and then implants them into matter."

—Johann Eduard Erdmann: *A History of Philosophy* Vol 1. (English Translation ; Edited by Williston, S. Hough.)

वह (शृङ्गार) तदात्मक और तद्जनित है,' दोनों के अन्तर का धूमिल संकेत मिलता है। क्योंकि यहाँ रस को स्थायी भाव जैसा भी माना है और उससे उत्पन्न भी। फिर भी इस प्रकार की उक्तियों में प्लेटो जैसी किसी सूक्ष्म दार्शनिक बुद्धि का अभाव है। यह शंकुक के चिन्तन की सीमा है कि वे अनुकार्य और अनुकृति के अन्तर को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं कर पाए।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि अनुकृति न केवल अनुकार्य से भिन्न है, वरन् वह उससे निम्नकोटि की भी होगी। अतः यह रस भाव की अपेक्षा एक निम्नकोटि की सृष्टि है, उसमें वैसा प्रभाव और वैसी शक्ति नहीं हो सकती जैसी कि भाव में है। किन्तु यह स्थिति तो प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत है। रस की अनुभूति भाव की अनुभूति की अपेक्षा तीव्रतर और उदात्त होती है। यह अनुभव से सिद्ध है और परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इसे स्वीकार किया है। इस दृष्टि से रस को अनुकृति मानना असंगत है।

भारतीय दार्शनिक दृष्टि से अनुकृति की व्याख्या करते समय हमारा ध्यान सहज ही सत्य की व्याख्या की ओर जाता है। हमारे यहाँ सृष्टि को ब्रह्म की या उसके विचारों की अनुकृति नहीं माना गया है, वरन् अभिव्यक्ति माना गया है। किन्तु सत्य की व्याख्या करते हुए उसके तीन प्रकार माने गए हैं—पारमार्थिक सत्य, व्यावहारिक सत्य और प्रातिभासिक सत्य। इस दृष्टि से देखते हुए हम रस को पारमार्थिक सत्य नहीं मान सकते क्योंकि वह स्वतः सिद्ध और निरपेक्ष नहीं है, वरन् रामादि के स्थायी भाव की अनुकृति है। यदि अनुकार्य को पारमार्थिक सत्य माना जाए तो अनुकृति को व्यावहारिक सत्य मानना पड़ेगा और यदि अनुकार्य को व्यावहारिक सत्य मानें तो रस को प्रातिभासिक सत्य मानना पड़ेगा। प्रथम स्थिति शंकुक की लौकिक दृष्टि के अनुकूल है, और द्वितीय स्थिति वेदान्त के अनुकूल है। अतः भारतीय दार्शनिक दृष्टि से भी रस को भाव की अपेक्षा निम्नकोटि का सत्य मानना पड़ेगा।

यह स्पष्ट है कि शंकुक वेदान्ती नहीं हैं। वे न्यायदर्शन से प्रभावित कहे जाते हैं और उनकी दृष्टि यथार्थवादी दृष्टि है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामादि मूल पात्र उनके लिए पारमार्थिक सत्य की कोटि में ही आएँगे और उनके भावों की अनुकृति —रस—व्यावहारिक सत्य में। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह स्थिति सत्य नहीं होगी। क्योंकि यह स्पष्ट है कि अनुकृति सत्य नहीं है—अनुकृत भाव (रस) रामादि के स्थायी भाव से भिन्न है। यदि हम रामादि के स्थायी भाव को सत्य मानें—जैसा कि माना जाता है—तो रस वस्तुतः एक कृत्रिम अथवा मिथ्या सृष्टि होगी।

एक ओर तो अनुकृति स्वयं सत्य नहीं है, दूसरी ओर वह सामाजिक में भी भ्रम उत्पन्न करती है। क्योंकि अनुकृति की पूर्णता के कारण ही सामाजिक नट को राम और अनुकृत भाव को राम का भाव समझने लगता है। अतएव अनुकृति वस्तुपरक दृष्टि से भी असत्य है और आत्मपरक दृष्टि से भी, वस्तुरूप में कृत्रिम है और प्रभाव रूप में भ्रमोत्पादक।

रस का स्वरूप

रस-निष्पत्ति और रसास्वाद के साधन आदि के विषय में तो भरत, लोल्लट और शंकुक—तीनों ने विचार किया है। किन्तु जब रस के स्वरूप के विषय में उनके विचारों के निदर्शन-विवेचन का प्रश्न आता है तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस विषय की ओर उन्होंने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। वस्तुतः इन आचार्यों की दृष्टि प्रधानतया रस के अवयव और रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पर ही केन्द्रित थी। और इन्हीं पक्षों के विवेचन के अन्तर्गत आनुषङ्गिक रूप से रस के स्वरूप आदि पर विचार हुआ है।

शंकुक ने स्थायी भाव के प्रकाश में रस के स्वरूप के विषय में एक-दो बातें कही हैं। उन्होंने रस को स्थायीभाव की अनुकृति माना है।[1] उदाहरण स्वरूप रति की अनुकृति को ही शृङ्गार कहते हैं। अनुकृत स्थायीभाव के लिए ही एक अन्य नाम—रस—का प्रयोग होता है। इससे सिद्ध है कि रस का जन्म स्थायीभाव से होता है तथा वह तदात्मक है। यह बात भरत के मत के अनुकूल है। उन्होंने भी यह कहा है कि स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।

रस के स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि वह कृत्रिम होता हुआ भी यथार्थ प्रतीत होता है। क्योंकि नट में वस्तुतः उसकी स्थिति नहीं होती फिर भी उसकी सफल एवं पूर्ण अनुकृति के बल पर सामाजिक को नट में रस की अनुमिति होती है जो कि यथार्थ नहीं है।

शंकुक के मत के अनुसार भी रस आस्वाद रूप नहीं, आस्वाद्य ही है।[2] यह मत भी भरत के अनुकूल है। नट में अनुमित रस की चर्वणा सामाजिक द्वारा निष्पन्न होती है। अतएव रस चर्व्यमाण या आस्वाद्य है।

---

१. **अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः**

—अभिनव भारती, पृ० २७२

तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम्।

—वही, पृ० २७३

२. **रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस।**

—मम्मट : काव्य प्रकाश, पृ० ३६

रस सुखात्मक है या दुखात्मक, इस सम्बन्ध में शंकुक की कोई उक्ति उपलब्ध नहीं होती। अतएव यह कहा जा सकता है कि इस विषय में वे भरत के मत को ही स्वीकार करते हैं और रस को हर्षमय मानते हैं। क्रोध और शोक आदि किस प्रकार हर्षमय हो जाते हैं, इस समस्या की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

रस अनुमेय होता हुआ भी अन्य अनुमेयों से विलक्षण है। इसका विवेचन 'रसास्वाद' में किया जाएगा।

दार्शनिक व्याख्या

रस के स्वरूप के विषय में शंकुक की तीन मान्यताएं ऐसी हैं जो दार्शनिक व्याख्या की अपेक्षा रखती हैं—(१) रस अनुकृति है, (२) रस प्रातिभासिक अनुभूति है एवं आस्वाद्य है, और (३) रस अविद्यमान होते हुए भी विद्यमान प्रतीत होता है। इनमें से प्रथम की व्याख्या पहले की जा चुकी है। शेष दोनों की व्याख्या इस प्रकार है।

२—**रस अनुभूति स्वरूप है और आस्वाद्य है**—भरत ने रस को पदार्थ माना है किन्तु लोल्लट ने उसे अनुभूति माना है। लोल्लट की परम्परा में ही शंकुक भी आते हैं क्योंकि वे भी रस को अनुभूति मानते हैं। किन्तु साथ ही इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि लोल्लट उस अनुभूति की प्रतीति मानते हैं और शंकुक अनुमिति एवं वह अनुभूति वस्तुतः नट में विद्यमान ही नहीं है।

अनुभूति के स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या करते समय सबसे पहले यह बात सामने आती है कि कोई भी दर्शन अनुभूति को आत्मा या चैतन्य से पृथक् स्वीकार नहीं करता। और यह स्थिति संगत भी है क्योंकि चैतन्य में अनुभूति अथवा संवेदना का समाहार कर लिया जाता है। यद्यपि शंकुक के मत के जो उद्धरण हमें प्राप्त हैं उनको देखने से यह ज्ञात नहीं होता कि उन्हें इस तथ्य का ज्ञान था या नहीं, लेकिन एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि शंकुक ने भी रस के स्वरूप की व्याख्या को सजग अथवा सहज रूप से चेतनावादी अथवा विचारवादी सीमा में प्रतिष्ठित किया है। किन्तु इसके आधार पर शंकुक को विचारवादी चिन्तक नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि उन्होंने रस की स्थिति सामाजिक में नहीं मानी, अनुकर्त्ता में ही मानी है और वहाँ भी उसका आभास मात्र ही होता है। किन्तु वह प्रातिभासिक अनुभूति आस्वाद्य है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि भरत का पदार्थ रूप रस आस्वाद्य है।

यहाँ एक बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए। शंकुक की दृष्टि में वह प्रातिभासिक अनुभूति ही रस है और सामाजिक अपनी वासना द्वारा उसकी

चर्वणा करता है। अतः सामाजिक की अनुभूति रस नहीं है, वह तो रस की चर्वणा है। इस दृष्टि से शंकुक का मत भरत के निकट है। उन्होंने यह माना है कि सामाजिक पदार्थ रूप रस का आस्वादन करता है और शंकुक ने यह माना है कि सामाजिक प्रातिभासिक अनुभूति रूप रस की चर्वणा करता है। शंकुक के रस-चिन्तन का सब से दुर्बल पक्ष यही है। यह प्रश्न होता है कि प्रातिभासिक अनुभूति की चर्वणा कैसे हो सकती है? शंकुक ने इसका उत्तर धर्मकीर्ति की कारिका (पृ० ५८) के आधार पर दिया है जिसका विवेचन अन्यत्र किया जाएगा।

शंकुक की यह मान्यता भी लोल्लट की मान्यता के अनुकूल है। दोनों ही रस को नट में तत्त्वतः अविद्यमान मानते हैं। असत् होते हुए भी वह सत् प्रतीत होता है। दार्शनिक दृष्टि से यह भ्रमात्मक ज्ञान है और प्रातिभासिक सत्य की कोटि में आता है। स्वप्न में दृष्ट वस्तुओं के समान ही रस का आभास तो होता है किन्तु वस्तुतः वह नहीं है। शंकुक का चिन्तन इस दिशा में भी सूक्ष्मता में नहीं उतरा।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि—यदि रस वस्तुतः है ही नहीं तो उसका आस्वाद कैसे होता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति स्वप्न देखते समय स्वप्न-सृष्टि का सुखात्मक या दुखात्मक आस्वाद करता है। उसी प्रकार सामाजिक भी नाटक देखते समय तक असत् रस का भी आस्वाद करता है।

जो वस्तु अविद्यमान होते हुए भी प्रतीत हो, उसे वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा जाता है और उसके ज्ञान को अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। कारण यह है कि जो वस्तु है भी—क्योंकि प्रतीत होती है—और नहीं भी—क्योंकि है नहीं—उसके लिए 'अनिर्वचनीय' शब्द का ही प्रयोग किया जा सकता है। पंडितराज जगन्नाथ ने रस-निष्पत्ति का एक मत दिया है जो अनिवर्चनीय ख्याति के आधार पर ही स्थित है। इसका विस्तृत विवेचन उनके मत की मीमांसा करते समय किया जाएगा।

रस का आश्रय

कुछ विद्वानों का मत है कि शंकुक के मतानुसार रस का आश्रय नायक है। किन्तु यह मत असंगत है। नायक रस का आश्रय नहीं, स्थायीभाव का आश्रय है। नायक की अनुभूति रस-रूप नहीं, भाव-रूप है। रस तो उसकी अनुकृति है जो नटादि द्वारा सम्पन्न होती है। साथ ही यदि नट को रस का आश्रय माना जाए तो यह मान्यता भी तत्त्वतः संगत नहीं होगी। क्योंकि वस्तुतः नट में रस की स्थिति तो होती नहीं, वहाँ तो केवल अनुमिति ही होती है। इसलिए नट को

भी रस का आश्रय नहीं माना जा सकता। केवल इतना कहा जा सकता है कि सामाजिक की दृष्टि में रस का आश्रय नट है किन्तु सामाजिक की यह अनुमिति भ्रमात्मक ही है। यद्यपि ऐसी मान्यता अन्तर्विरोध-ग्रस्त प्रतीत होती है, फिर भी इस सम्बन्ध में यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि हम काव्य-संसार के विषय में कह रहे हैं, यथार्थ-संसार के विषय में नहीं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जो निष्कर्ष निकला है यदि उस पर और आगे विचार किया जाए—यद्यपि शंकुक ने ऐसा नहीं किया, तो कुछ मनोरंजक बातें सामने आयेंगी। यदि उपर्युक्त निष्कर्ष को दार्शनिक शैली से आगे बढ़ाया जाए तो वेदान्त की स्थिति आ जाती है। वेदान्त के अनुसार वस्तुतः सृष्टि नहीं है किन्तु वह प्रतीत होती है और उसका भोग होता है। उसी प्रकार शंकुक के मतानुसार वस्तुतः नट में रस की स्थिति नहीं है किन्तु सामाजिक को वहाँ रस की अनुमिति होती है—अनुमिति ही नहीं, वह उसका आस्वादन भी करता है। स्पष्टतः यह 'अनिवर्चनीय ख्याति' के सिद्धान्त के अनुरूप है।

जब हम इस ओर ध्यान देते हैं कि शंकुक ने रस-विवेचन में एक ऐसी मान्यता प्रस्तुत की है जिसको उन्होंने पूर्णरूपेण दार्शनिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं की, तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे कोई प्रौढ़ दार्शनिक नहीं थे; वरन् अन्य तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि उनका दर्शन-विषयक ज्ञान सामान्य कोटि का था। किन्तु इसके साथ-साथ यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि उन्होंने रस की व्याख्या में अपने दार्शनिक ज्ञान का—अनुमानादि का—उपयोग किया है।

नट में नायक की प्रतीति

रस के आश्रय के विवेचन में यह स्पष्ट हो गया था कि इस सम्बन्ध में शंकुक की मान्यता अन्तर्विरोध-ग्रस्त है। वही बात कुछ अंशों तक नट में नायक की प्रतीति की समस्या के विवेचन में भी पाई जाती है।

नट में रामादि की प्रतीति भ्रमात्मक है, यह तो एक सहज सत्य है। किसी भी ज्ञात प्रमाण के आधार पर नट को राम नहीं सिद्ध किया जा सकता। नट को राम का अभिनय करते हुए देखकर सामाजिक यह नहीं सोचता कि यह राम है, या यह राम नहीं है, या यह राम सदृश है, या यह राम है या नहीं। इसलिए नट में राम की प्रतीति न तो सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति है, न सादृश्य की प्रतीति है और न संशयात्मक प्रतीति ही है। वरन् नट में राम की प्रतीति

का तो एक विलक्षण साधन है और वह है--चित्र तुरग न्याय।[1] जिस प्रकार घोड़े के चित्र को देखकर हम उसे घोड़ा कह देते हैं, उसी प्रकार राम का रूप धारण किये हुए नट भी सामाजिकों द्वारा राम ही समझा जाता है। रामलीला के अवसर पर रामरूप नट के प्रति भी जनता श्रद्धा या भक्ति दिखाती प्रतीत होती है तथा राम के चित्र या मूर्त्ति आदि की पूजा की प्रथा तो बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। इससे यह तो स्पष्ट होता है कि सामाजिक में एक ऐसी मानसिक-क्रिया या वृत्ति है जो चित्रादि को भी यथार्थ समझ कर भक्ति-पूजा आदि करती है। इसे तो सभी स्वीकार करते हैं। लेकिन उस मानसिक क्रिया का आधार क्या है—लोल्लट का अनुसन्धान है या शंकुक का चित्रतुरग न्याय—यह देखना है। चाहे हम अनुसन्धान को स्वीकार करें, चाहे चित्रतुरग न्याय को—इतना तो साफ है कि दोनों ही अवस्थाओं में यह प्रतीति भ्रमात्मक ही होगी, यथार्थ नहीं।

अनुसन्धान अथवा चित्रतुरग न्याय को स्वीकार करने में एक बड़ी भारी कठिनाई है। और वह यह कि ये दोनों ही सिद्धान्त यह मानकर चलते हैं कि सामाजिक नायकादि के व्यक्तित्व से परिचित है। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसा होता था किन्तु वर्त्तमान काल में ऐसा नहीं है। उन नाटकों अथवा चलचित्रों में जहाँ कि नायक का व्यक्तित्व भी कल्पित ही है, न तो अनुसन्धान काम आ सकता है और न चित्रतुरग न्याय ही। क्योंकि वहाँ पर तो सामाजिक को नायक का परिचय नाटक या चलचित्र के आरंभ होने पर ही मिलता है। इसलिये न तो अनुसन्धान और न चित्र-तुरग न्याय ही सामाजिक को नट में नायक की प्रतीति करा सकता है। वस्तुतः इस भ्रमात्मक प्रतीति का आधार तो सामाजिक की मानसिक वृत्ति ही है जो पहले से ही नट को नायक रूप में ग्रहण करने के लिये तत्पर होकर जाती है।

यद्यपि शंकुक ने लोल्लट के 'अनुसन्धान' के समकक्ष 'चित्र तुरग न्याय' की प्रतिष्ठा की, फिर भी वे इस तथ्य से परिचित थे कि नट में नायक की प्रतीति की व्याख्या करना असंभव-सा ही है। क्योंकि वहाँ न तो सन्देह होता है, न निश्चय होता है, न भ्रान्ति होती है, कभी

१. **राम एवायम्, अयमेव राम इति न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वान वाऽयमिति राम सदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्या-संशयसादृश्य-प्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे।**

—मम्मट : **काव्यप्रकाश, पृ० ३५**

यह बुद्धि होती है कि यह राम है और कभी यह बुद्धि होती है कि यह राम नहीं है। इस प्रकार विरोधी बुद्धियों के सम्मिश्रण के कारण इस प्रत्यक्षात्मक अनुभव को क्या कहा जाए, यह स्पष्ट नहीं होता।[1] जिस प्रकार रस के आश्रय के विषय में शंकुक पूर्ण दार्शनिक दृष्टि से विचार नहीं कर पाए, उसी प्रकार प्रस्तुत समस्या के समाधान में भी उन्हें कोई संगत आधार नहीं मिल पाया। 'चित्र-तुरग न्याय' के आधार पर उसका समाधान करते हुए भी उस प्रतीति के लिए कोई उपयुक्त शब्द उन्हें नहीं मिल पाया। दर्शनशास्त्र में ऐसी प्रतीति के लिए अनिर्वचनीय ख्याति के अतिरिक्त कोई दूसरा सिद्धान्त अधिक उपयुक्त नहीं है।

यदि शंकुक के चित्र-तुरग न्याय को स्वीकार कर लिया जाए तो एक यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि जब नट में नायकादि का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है तो उससे किसी फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? शंकुक ने स्वयं इसका समाधान किया है और अपने उत्तर में धर्मकीर्ति की कारिका उद्धृत की है।[2] इस आधार पर डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने यह सिद्ध किया है कि शंकुक न तो प्राच्य-न्याय को मानते थे, न नव्य न्याय को और न जैन न्याय को ही, वरन् वे बौद्ध-न्याय मत के अवलम्बी थे।[3] और शंकुक के विवेचन को देखते हुए यह निष्कर्ष सही प्रतीत होता है।

रसास्वाद

जब हम शंकुक द्वारा प्रस्तुत रसास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन की ओर आते हैं तो यहाँ हमें उसके दो पक्ष दिखाई देते हैं :

---

१. **प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः।**
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्ध बुद्धि सम्भेदादविवेचितसम्प्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥

—वही०, पृ० २७३

२. **अर्थ क्रियादि मिथ्याज्ञान दृष्टा—**
मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषो ऽपि विशेषोऽर्थ क्रियांप्रति ॥

—अभिनव०, पृ० २७३

३. डा० प्रेमस्वरूप गुप्त : **रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन**, (प्रबन्ध रूप में) पृ० १४७

प्रथम—सामाजिक को रसज्ञान कैसे होता है ?

द्वितीय—सामाजिक रसास्वाद कैसे करता है ?

पहले सामाजिक को रसज्ञान होता है और फिर वह रसास्वाद करता है। दोनों के साधन भिन्न-भिन्न हैं। रसज्ञान का साधन है अनुमान और रसास्वाद का साधन है 'सामाजिक की वासना'। इनमें भी अधिक विवेचन अनुमान का मिलता है। वासना का उल्लेख तो बाद में मम्मट ने किया है।

रस की अनुमिति

सामाजिक को अनुभाव आदि की सहायता से नट में रस की अनुमिति होती है। इसीलिए विभावादि को गमक और रस को गम्य भी कहा गया है। किन्तु यह अनुमिति न्याय की अनुमिति नहीं है वरन् यह तो उससे विलक्षण है।[1] इसका कारण यह है कि रस एक सौंदर्य-प्रधान अनुमेय है और इसलिए उसमें रसनीयता भी है, इसकी अनुमिति रसास्वाद का कारण है। अन्य अनुमेयों में ऐसा नहीं होता। इससे पूर्व कि रसानुमिति की मीमांसा की जाए, अनुमान का स्वरूप स्पष्ट करना उपयोगी होगा।

दार्शनिक आधार : अनुमान—ज्ञान-प्राप्ति के अनेक प्रमाणों में अनुमान भी एक प्रमाण है। न्याय में इस प्रमाण का विशेष महत्व है। इस प्रमाण के तीन अंग होते हैं :

१—अनुमेय या गम्य,

२—अनुमापक, गमक या हेतु, और

३—अनुमेय और हेतु का नित्य सम्बन्ध जिसे व्याप्ति कहते हैं।

उदाहरण के लिए यदि कहीं दूर पर धुँआँ उठता दिखाई दे, तो उसे देखकर हम कह सकते हैं कि वहाँ आग जल रही है। यहाँ धुँआँ हेतु या लिंग है और आग अनुमेय। तथा धुँए को देखकर जो आग की अनुमिति की गई उसका कारण है धुँए और आग का नित्य सम्बन्ध। 'जहाँ-जहाँ धुँआँ होगा वहाँ-वहाँ आग होगी'—दोनों का नित्य सम्बन्ध प्रकट करने वाली यह उक्ति व्याप्ति कहलाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यदि रसानुमिति की समीक्षा की जाए तो यह स्पष्ट होगा कि वह अनुमिति केवल इसी बात में अन्य अनुमितियों से भिन्न नहीं है कि वह सौंदर्य-प्रधान है, वरन् इस बात में भी वह उनसे भिन्न है कि

१. ···अनुमीयमानोऽपि वस्तु सौंदर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः····।

—मम्मट : काव्य-प्रकाश, पृ० ३६

वह अदार्शनिक अनुमिति है। दार्शनिक की दृष्टि से रसानुमिति असंगत है, अनुमिति है ही नहीं। इसका कारण यह है कि अनुमिति के लिए व्यप्ति का होना अत्यंत आवश्यक है। जहाँ व्याप्ति नहीं होगी, वहाँ अनुमिति भी नहीं होगी। दार्शनिक दृष्टि से रसानुमिति की परीक्षा करते हुए उसके तीन अंग हुए :

१—अनुमेय—रस,

२—हेतु—विभावादि, और

३—व्याप्ति—जहाँ-जहाँ विभावादि हों वहाँ-वहाँ रस होगा।

अब ज़रा इस व्याप्ति की परीक्षा कीजिए। एक ओर तो शंकुक विभावादि को रस का गमक मानते हुए उसे अनुमेय मानते हैं और उसी सांस में यह भी कह डालते हैं कि रस नट में है ही नहीं—गम्य-गमक भावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि········तत्रासन्नपि········(मम्मट—**काव्य-प्रकाश**, पृ० ३६)। तो फिर यहाँ अनुमान का प्रयोग किया जाना कहाँ तक उचित है? वस्तुतः यहाँ अनुमान शब्द का प्रयोग करना भी दार्शनिक अपरिपक्वता का परिचायक है। और इस आधार पर मेरा यह मत और भी दृढ़ होता है कि शंकुक का दर्शन-विषयक ज्ञान सामान्य कोटि का था। उनके पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अनुमान का प्रयोग दार्शनिक अर्थ में नहीं, वरन् एक सामान्य लौकिक अर्थ में किया था।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शंकुक पर किस भारतीय दर्शन का प्रभाव अधिक है? प्रायः विद्वान् उन्हें नैयायिक मानते हैं। डाक्टर पाँडे उन्हें प्राच्य नैयायिक मानते हैं और डाक्टर प्रेमस्वरूप गुप्त उन्हें बौद्ध नैयायिक मानते हैं। इन दोनों मतों में डाक्टर गुप्त का मत ही अधिक मान्य है। इसका उल्लेख पहले हो चुका है। वस्तुतः उन्हें नैयायिक मानने का आधार है 'अनुमान' का प्रयोग। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जो 'अनुमान' का प्रयोग करे वह नैयायिक ही हो। डाक्टर गुप्त के मत का आधार शंकुक का रस-विषयक चिन्तन नहीं है वरन् कुछ शब्दावली ही है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि शंकुक बौद्ध न्याय से परिचित थे। किन्तु यह तथ्य एक आनुषंगिक तथ्य ही है क्योंकि यह जान लेने पर कि वे बौद्ध नैयायिक थे, उनके रस-विवेचन को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

नैतिक व्याख्या

शंकुक के रस-सम्बन्धी विचार इतने संक्षिप्त रूप में उपलब्ध होते हैं कि उनमें नैतिक व्याख्या का अवकाश स्वल्प ही है। इस सम्बंध में जितने भी प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनका उत्तर उनके विवेचन में नहीं

मिलता। जहाँ तक रस की निष्पत्ति, अनुकृति आदि व्यापार हैं उनकी नैतिक व्याख्या का सवाल ही नहीं पैदा होता। सामाजिक रस का आस्वादन करता है, केवल इस उक्ति से भी यह ज्ञात नहीं हो सकता कि सामाजिक पर उसका क्या नैतिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रसंग में केवल एक प्रश्न उठाया जा सकता है— जो कि अनुकृति की उपर्युक्त दार्शनिक व्याख्या से सम्बद्ध है। वह यह कि जब हम अनुकृति को हेय मानते हैं, सत्य-भ्रष्ट मानते हैं तो यह कैसे आशा कर सकते हैं कि उसका नैतिक प्रभाव शुभ होगा ? वरन् तब तो यह आशंका उत्पन्न होती है कि उसका प्रभाव अशुभ ही होगा। क्योंकि रस मनुष्य के भ्रम की सृष्टि है और जो कुछ भ्रमात्मक है, सत्य-भ्रष्ट है उसका प्रभाव भी दूषित ही होगा। प्लेटो ने अनुकृति के सत्य-भ्रष्ट होने के कारण काव्य को आदर्श गणराज्य से निष्कासित किया था।

भारतीय दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या करने पर शंकुक का रस प्रातिभासिक कोटि के अन्तर्गत आता है। और भ्रमात्मक होने के कारण वह नैतिक दृष्टि से भी त्याज्य ही है। किन्तु जहाँ हम किसी तथ्य का नैतिक मूल्यांकन दार्शनिक दृष्टि से कर सकते हैं, वहाँ उसी के नैतिक मूल्यांकन में व्यावहारिक दृष्टि का उपयोग भी किया जाता है। उदाहरण के लिए शंकराचार्य ने भक्ति को भी माया माना है किन्तु उसकी व्यावहारिक उपयोगिता स्वीकार की है। अतएव जब हम इस दृष्टि से शंकुक की रस-सम्बन्धी मान्यता के मूल्यांकन का प्रयास करते हैं तो उसके लिए हमें विशेष तथ्य प्राप्त नहीं होते। कारण यह है कि शंकुक का मत इतने संक्षिप्त रूप में प्राप्त होता है कि उसके नैतिक पक्ष का उद्घाटन करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। जब तक कि इस बात की चर्चा न हो कि रसास्वाद का सामाजिक पर क्या प्रभाव पड़ता है, तब तक इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। शंकुक के मत के जो उद्धरण या विवरण प्राप्त हैं उनसे इस पक्ष पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

पंचम अध्याय

भट्ट नायक

अन्य आचार्यों की भाँति भट्टनायक का रस-विवेचन भी रस के अन्य मतों के युक्तियुक्त खंडन से ही आरंभ होता है। यद्यपि युक्तियाँ प्रायः वे ही हैं जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है, फिर भी एक दृष्टि से उनकी समीक्षा महत्त्वपूर्ण होगी। और वह यह कि उनकी समीक्षा के फलस्वरूप भट्टनायक के रस-विषयक सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। क्योंकि खंडन (पूर्वपक्ष) और मंडन (उत्तर-पक्ष) दोनों पक्ष परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। भट्टनायक ने अन्य आचार्यों की भाँति ही अपने मत के पूर्वाग्रह से युक्त दृष्टि से ही अन्य मतों की आलोचना की है।

भट्टनायक ने प्रतीतिवाद, उत्पत्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद—तीनों का ही खंडन किया है। उनका यह खंडन प्रतीतिवाद के खंडन से आरंभ होता है और जो तर्क उसके विरोध में उपस्थित किए गए हैं, वे ही तर्क अन्य वादों को भी निरस्त करने में समर्थ हैं। प्रतीतिवाद का खंडन करते हुए उन्होंने दो प्रकार की प्रतीतियों की सम्भावना की है और दोनों पर आक्षेप किए हैं। प्रतीति या तो **स्वगत** हो सकती है या **परगत**।

यदि ऊपर के चारों आक्षेपों के उत्तर में यह कहा जाए कि साधारणीकरण के अभाव में भी शब्द, अनुमान आदि के द्वारा रस की स्वगत-प्रतीति सम्भव है तो यह भी अमान्य होगा। क्योंकि यह तो लोकानुभव से सिद्ध है कि प्रत्यक्ष जन्य अनुभूति में जो तीव्रता और गंभीरता पाई जाती है वह वर्णन या अनुमान के द्वारा कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकती। और यदि यह[1] कहा जाए कि नायक-नायिका के संभोग के प्रत्यक्ष दर्शन से सामाजिक को रसानुभूति होती है तो यह भी ग़लत ही होगा। क्योंकि नायक-नायिका के संभोग के प्रत्यक्ष से तो अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल विविध सामाजिकों में लज्जा, घृणा, इच्छा आदि वृत्तियों का जन्म होगा। ऐसी अवस्था में तल्लीनता का अभाव होगा और रसानुभूति नहीं होगी।

और यदि यह कहा जाए कि रसादि से युक्त राम की स्मृति ही रस-प्रतीति है तो यह भी असिद्ध है। क्योंकि सामाजिक ने राम को देखा ही नहीं, और जब देखा ही नहीं तो फिर स्मृति कैसी ? अतएव यह सिद्ध है कि रस-प्रतीति न तो अनुभव रूप है और न स्मृति रूप ही।[2]

अभिव्यक्तिवाद के अनुसार भी रस की प्रतीति आत्मगत ही है। अतएव उस पर भी वे सब आक्षेप लगाए जा सकते हैं जो प्रतीतिवाद पर लगाए गए हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य[3] आक्षेप यह भी है कि यदि अभिव्यक्तिवाद के अनुसार यह माना जाए कि स्थायीभाव वासना रूप से सामाजिक में विद्यमान रहते हैं और फिर वे विभावादि के दर्शन या श्रवण से उद्बुद्ध होते हुए रसरूप को प्राप्त होते हैं, तो हरेक रस में तारतम्य मानना पड़ेगा तथा एक-एक रस की असंख्य अवस्थाएँ एवं भेद मानने पड़ेंगे और रसानुभूति की अखंडता में बाधा पड़ेगी। इसलिए अभिव्यक्तिवाद भी खंडित हो जाता है।

परगत रस-प्रतीति से सामाजिक को रसानुभूति कभी हो ही नहीं सकती,

---

१. **न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता (सताऽपियुक्ता) प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकांवभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयव्यग्रतयाकाश (यानेक) रसत्वमथापिस्यात्।···· उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्।** —अभिनव, पृ० २७६

२. **न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः। अनुपलब्धत्वात्।··· तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता।** —वही, पृ० २७६

३. **शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतत्व परगतत्व च पूर्ववद्विकल्प्यम्।** —वही, पृ० २७६

यह सत्य सर्वमान्य होने के कारण भट्टनायक ने परगत रस-प्रतीति के खंडन का उपक्रम ही नहीं किया।

उपर्युक्त विवेचन का मूल्यांकन करते हुए निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं :

(१) रस की स्वगत-प्रतीति में साधारणीकरण की असमर्थता दिखाई गई है और अपने सिद्धान्त के मंडन में उसे भावकत्व व्यापार की आत्मा माना गया है। इस अन्तर्विरोध का विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

(२) अभिव्यक्तिवाद के खंडन में जो तर्क दिया गया है वह ग्राह्य नहीं है। रस की अभिव्यक्ति होती है, यह सत्य आज दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक—दोनों दृष्टियों से सिद्ध होता है। अब रही रसानुभूति के तारतम्य की बात, सो उसका समाधान यह है कि अनुभूति चरम अवस्था में ही रस के नाम से अभिहित होती है, उससे पूर्व की अनुभूति रस-रूप नहीं है। स्थायीभाव को रसरूपता प्राप्त करने में जो समय लगता है उसमें अनुभूति तीव्र से तीव्रतर होती हुई जब तीव्रतम रूप को पहुँचती है तभी वह रस कहलाती है। अनुभूति का तारतम्य अभिव्यक्तिवाद का खंडन नहीं, उसकी पुष्टि ही करता है, क्योंकि यह तो अभिव्यक्ति का स्वरूप ही है।

२. रस का आश्रय[1]

भट्ट नायक ने अन्य मतों का जो खंडन किया है, उसके आधार पर यह विचार किया जा सकता है कि उनके मत में रस का आश्रय कौन है ? इस समस्या पर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया, और यदि किया भी हो तो वह आज उपलब्ध नहीं होता। इसलिए इसका उत्तर उपर्युक्त खंडन के आधार पर ही ढूँढ़ा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि वे रस को न तो परगत—नटगत—ही मानते हैं और न स्वगत—सामाजिक-गत ही। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य है जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया; और इसी भूल के कारण प्रायः यह कह दिया जाता है कि भट्ट नायक सामाजिक को रस का आश्रय मानते हैं। किन्तु यह मान्यता सर्वथा भ्रान्त है। उन्होंने तो

१. यद्यपि पूर्व तथा परवर्ती अध्यायों के अनुक्रम को ध्यान में रखते हुए रस के आश्रय का विवेचन रस-निष्पत्ति और रस-स्वरूप के विवेचन के बाद होना चाहिए था, फिर भी प्रस्तुत निबन्ध में विषयवस्तु की क्रमबद्धता और विवेचन की सहजता के आग्रह से इसका विवेचन उनसे पहले किया जा रहा है।

स्पष्ट रूप से दोनों ही मतों का खंडन किया है। भट्ट नायक रस को नटगत नहीं मानते, इसे सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु वे रस को सामाजिक गत भी नहीं मानते। यदि इस कथन की सत्यता पूर्ववर्ती विवेचन से सिद्ध न हो तो इस विषय में अन्य प्रमाण भी दिए जा सकते हैं।

पहले तो यह कि भोग-व्यापार के स्वरूप का वर्णन करते हुए भट्ट नायक[1] ने उसे अनुभव और स्मृति से विलक्षण कहा है। सामाजिक रस का भोक्ता है उसका अनुभव कर्त्ता नहीं, उसका आश्रय नहीं। उदाहरण के लिए मनुष्य भात का भोक्ता तो है, भात का आश्रम नहीं है। वह मुस्कराते फूलों के सौन्दर्य का उपभोग तो करता है पर उसका आश्रय नहीं। इस विषय में भट्ट नायक भरत तथा लोल्लट के निकट हैं। इस विषय में भट्ट नायक और भट्ट लोल्लट् का मत समान है। यह अभिनवगुप्त की इस उक्ति से भी सिद्ध है कि भट्ट लोल्लट के मत के खंडन के साथ ही भट्ट नायक का भीखंडन हो जाता है।[2] इन दोनों में एक ही समानता है और वह यह कि दोनों ही न तो रस को परगत–नटगत—मानते हैं और न स्वगत—सामाजिक गत ही। इसके अतिरिक्त इन दोनों के मतों में कोई समानता नहीं।

दूसरा प्रमाण यह है कि ध्वन्यालोक लोचन में जहाँ अभिनव गुप्त ने शब्द की तीनों शक्तियों—अभिधा, भावकत्व और भोगकृत्व—का वर्णन किया है वहाँ केवल भोगकृत्व को ही सहृदय विषयक माना है।[3] इससे सिद्ध है कि भावकत्व व्यापार द्वारा रस के सिद्ध हो जाने पर ही उसका भोग होता है। इसका भी स्पष्ट उल्लेख भट्ट नायक ने किया है।[4] तथा भावकत्व तथा भोग-कृत्व के बीच यही मूलभूत अन्तर दिखाया है कि एक रस-विषयक है, दूसरा सहृदय विषयक। यदि रस की स्थिति सहृदय में ही हो, रस सहृदय की आत्म-

१. अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन····भोगेन ९रंभुज्यत इति ।

—अभिनव, पृ० २७७

२. तत्रपूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लटपक्षानुभ्यपगमादेव
नाम्युपगम्यत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव ।

—वही, पृ० २७७

३. तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रसः ;
किन्त्वन्य शब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशता प्रसादात् ।
तत्रभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदय-
विषयम् ।— लोचन, पृ० १८२

४. भाविते च रसे तस्य भोग :   —वही, पृ० १८१

गत अनुभूति हो तो फिर दोनों का अन्तर दूसरे प्रकार से दिखाया जाता। जैसा कि पहले कह आए हैं, उन्होंने रस को अनुभव से विलक्षण माना है तथा अभिव्यक्तिवाद का खंडन किया है। यदि पहली बातों को भुलाकर यह मान भी लिया जाए कि भट्ट नायक के मत में रस सहृदयगत है तो फिर अभिव्यक्तिवाद और भट्ट नायक के मत में कोई अन्तर नहीं रहा। क्योंकि रस की स्थिति सहृदय-गत मानने का अभिप्राय होगा कि भावों को वासना रूप में सहृदय में स्थित मानें क्योंकि यदि रस का आश्रय सामाजिक है तो वह स्थायीभाव का आश्रय स्वयमेव होगा। स्पष्टतः यह स्थिति भट्ट नायक के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है और अभिव्यक्तिवाद के खंडन में उन्होंने इसी स्थिति का खंडन किया है। अतः यह सिद्ध है कि भट्टनायक के मतानुसार रस का आश्रय न तो नट या नायक है और न सामाजिक ही है। तो प्रश्न होता है कि उनके मत में रस का आश्रय कौन है ?

रस के आश्रय के विषय में जिस प्रकार भरत मौन हैं उसी प्रकार भट्ट-नायक भी। किन्तु लोचन से जो उद्धरण दिया गया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे काव्य को ही रस का आश्रय मानते हैं। काव्य के शब्द की तीन शक्तियों के प्रसाद से ही रस की भुक्ति होती है। अतः काव्य या नाटक को ही रस का आश्रय माना जा सकता है।

रस-निष्पत्ति

पीछे के मतों के विवेचन में रस-निष्पत्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए हमने विभावादि एवं रस के सम्बन्ध की चर्चा की थी। उन मतों में तथा भट्ट-नायक के मत में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। और वह यह कि लोल्लट और शंकुक ने विभावादि का रस से प्रत्यक्ष सम्बन्ध माना था तथा प्रतीति या अनु-मिति आदि जिन व्यापारों की कल्पना की थी, उनका सम्बन्ध मुख्यतः रसा-स्वाद से था। इस प्रकार उन मतों में विभावादि ही रस-निष्पत्ति के प्रधान कारण थे और उन्हें रस का उत्पादक आदि माना जा सकता था। उसी क्रम को स्वीकार करते हुए भट्टनायक के विषय में यह कहा जाता है कि वहाँ रस भोज्य है और विभावादि भोजक, तथा निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति। वस्तुतः यह कथन सर्वथा भ्रान्त है। क्योंकि भट्टनायक ने निष्पत्ति का अर्थ किया है भावित होना तथा उसकी सिद्धि का साधन विभावादि को नहीं माना, मगर भावकत्व व्यापार को ही माना है। इसी प्रकार रस की भुक्ति का साधन भी भोजकत्व व्यापार है, विभावादि नहीं। प्रस्तुत मत में प्रधानता विभावादि को नहीं, भाव-कत्वादि व्यापारों को मिली है। विभावादि तो उन्हीं व्यापारों से शासित हैं।

उदाहरण के लिए भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। अतएव यहाँ रस-सिद्धि का कारण विभावादि नहीं, भावकत्व व्यापार ही है।

साथ ही यह भी निर्भ्रान्त रूप से समझ लेना चाहिए कि भावकत्वादि व्यापार विभावादि के नहीं हैं वरन् काव्यात्मक शब्द के हैं।[1] अतः यह कह सकते हैं कि भावकत्व व्यापार भावक है और रस भाव्य। शास्त्रीय दृष्टि से तो विभावादि को भी रस का भावक नहीं मान सकते। और विभावादि रस के भोजक तो किसी प्रकार भी नहीं माने जा सकते। अतः यह सिद्ध है कि भट्ट-नायक के मतानुसार रस की निष्पत्ति का अर्थ है रस का भावित होना, रस की भुक्ति उसका अर्थ किसी प्रकार नहीं हो सकता। 'भाविते च रसे तस्य भोगः' (लोचन) से यह सिद्ध है।

रस-निष्पत्ति की व्याख्या करते हुए भट्ट नायक ने शब्द की दो शक्तियों का उल्लेख किया है। एक है **अभिधायकत्व** तथा दूसरी है **भावकत्व**। इन दोनों के फलस्वरूप ही रस की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त काव्य-शब्द में एक तीसरी शक्ति भी होती है जिसका नाम है **भोजकत्व**। किन्तु इसका सम्बन्ध रस-निष्पत्ति से नहीं, रसास्वाद से है।[2] प्रथम दो व्यापारों का विवेचन रस-निष्पत्ति के अन्तर्गत तथा अन्तिम व्यापार का विवेचन रसास्वाद के अन्तर्गत किया जाएगा।

इन व्यापारों के विवेचन से पूर्व व्यापार के स्वरूप को समझ लेना उपयोगी है। मीमांसा दर्शन में व्यापार की यह परिभाषा दी गई है :

"वह करण से उत्पन्न होता है तथा करण से उत्पन्न होने वाले फल का जनक होता है। उदाहरण के लिए—लकड़ी चीरना एक व्यापार है। उसका करण है कुल्हाड़ी। तथा कुल्हाड़ी से उत्पन्न होने वाले फल—लकड़ी के चीरे जाने—का जनक है। अतएव लकड़ी और कुल्हाड़ी का संयोग एक व्यापार है।"[3]

---

१. किंत्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशता प्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंशऽभूता व्यापारः। —लोचन, पृ० १८२

२. तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रसः. किन्त्वन्य-शब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वंसहृदयविषयम्। —वही, पृ० १८२

३. तज्जन्यत्वे सति जनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठारदारुसंयोगः, कुठारजन्यछिदाजनकः।—केशव मिश्र-तर्कभाषा : (पूना संस्करण) पृ० ६ (डा० प्रेमस्वरूप गुप्त—**रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन**—से उद्धृत)

दार्शनिक दृष्टि से व्यापार की उपर्युक्त परिभाषा चाहे कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो किन्तु स्वतंत्र दृष्टि से व्यापार के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे अधिक वैज्ञानिक एवं सरल रूप से समझाया जा सकता है। किसी भी व्यापार के तीन तत्व होते हैं : प्रथम — **कारण**, द्वितीय—**आश्रय**, और तृतीय—**फल**। कोई भी व्यापार अपने-आप आरंभ नहीं हो सकता। उसके लिए विशेष उपकरणों एवं परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। ये उपकरण और परिस्थितियाँ ही व्यापार के कारण के अन्तर्गत आयेंगी। यह भी सिद्ध है कि कोई भी व्यापार शून्य में नहीं हो सकता। उसका कोई-न-कोई आधार या आश्रय अवश्य होता है। और व्यापार की समाप्ति पर उसका कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। व्यापार के इन्हीं तत्वों को ध्यान में रखकर अभिधायकत्व आदि व्यापारों का विवेचन किया जाएगा।

१—अभिधायकत्व व्यापार

भट्टनायक के अनुसार रस-निष्पत्ति का साधक प्रथम व्यापार अभिधायकत्व व्यापार है जो कि शब्द की अभिधा शक्ति का व्यापार है। प्रत्येक शब्द में किसी साक्षात् अर्थ को संकेतित करने की शक्ति होती है जो उसे परम्परा और प्रयोग से प्राप्त होती है। अभिधेयार्थ शब्द का प्रसिद्ध-प्रचलित अर्थ है। अभिधा शक्ति का ज्ञान जितना काव्य के भावन के लिए अनिवार्य है उसी प्रकार अन्य शास्त्रों के ज्ञान के लिए भी आवश्यक है। इसके द्वारा केवल अर्थबोध होता है जो कि कला एवं शास्त्र-सम्बन्धी सभी विषयों को हृदयंगम करने के लिए अनिवार्य है। अर्थबोध भावबोध की प्रथम अनिवार्य सीढ़ी है। इसके अभाव में भावबोध नहीं होता। इसीलिए अभिधायकत्व को भट्टनायक ने प्रथम काव्य-व्यापार माना है।

(क) **कारण**—अभिधायकत्व व्यापार का कारण शब्द की वह सहज शक्ति है जो कि उसे परम्परा एवं प्रयोग से प्राप्त है। संक्षेप में शब्द की अभिधा शक्ति को अभिधायकत्व व्यापार का कारण माना जा सकता है। किन्तु यह केवल वस्तुगत कारण है। इसके अतिरिक्त सहृदय का भाषा-ज्ञान भी अनिवार्य है। उदाहरण के लिए यदि व्यक्ति कोई भाषा नहीं जानता तो उसके लिए उस भाषा के शब्द निरर्थक ही हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभिधायकत्व व्यापार का एक अन्य कारण सामाजिक का भाषा-विषयक ज्ञान भी है। दोनों के; सार्थक शब्द और सामाजिक वा तद्विषयक ज्ञान; के होने पर ही अभिधायकत्व व्यापार संभव हो सकता है। इसलिए इस व्यापार के ये दोनों कारण हैं।

(ख) **आश्रय**—अभिधायकत्व व्यापार का आश्रय है— सहृदय । यह व्यापार लकड़ी आदि चीरने के समान एक जड़-व्यापार नहीं है वरन् चेतन व्यापार है, संवेदनात्मक व्यापार है इसलिए सहृदय ही इसका आश्रय हो सकता है।

(ग) **फल**—अभिधायकत्व व्यापार का फल है वाच्यार्थ का ज्ञान—"तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्"—लोचन । वाच्यार्थ का ज्ञान रस-निष्पत्ति की पहली सीढ़ी है और इस पहली सीढ़ी तक पहुँचाने वाला साधन है अभिधायकत्व व्यापार । वाच्यार्थ के ज्ञान में अभिधायकत्व व्यापार का पर्यवसान हो जाता है और फिर यहीं से दूसरे व्यापार—भावकत्व व्यापार—का कार्य आरंभ होता है।

२—भावकत्व व्यापार : आधार

अभिधायकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा में भट्टनायक ने अभिधा शक्ति का आधार स्वीकार किया है। उसी प्रकार जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि उन्होंने भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा किस आधार पर की ? तो हमारे सामने दो विकल्प आते हैं। प्रथम तो यह कि भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा मीमांसा दर्शन के 'भावनावाद' के आधार पर हुई है; द्वितीय मत यह भी हो सकता है कि उसकी प्रतिष्ठा स्वतंत्र रूप से की गई होगी।

(क) **मीमांसा दर्शन का भावनावाद**—मीमांसा दर्शन में क्रिया के लिए 'भावना' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा यह निश्चित है कि भट्टनायक को मीमांसा-दर्शन का अच्छा ज्ञान था। इन्हीं दो तथ्यों के आधार पर भावकत्व व्यापार का आधार मीमांसा के भावनावाद में खोजने का प्रयास किया गया है।[1] सामान्य व्यक्ति यह कहेगा कि 'यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है'। किन्तु इसी बात को भावना क्रियावादी मीमांसक यों कहेगा 'यज्ञ से स्वर्ग भावित होता है।' अतः यज्ञ-क्रिया को क्रिया न कहकर उसे भावना कहा जाता है तथा स्वर्ग साध्य या भाव्य कहलाता है। भावना का पारिभाषिक अर्थ है 'साध्य की सिद्धि के अनुकूल व्यापार-'भावनानाम भवितुर्भवानुकूलो व्यापारः ।' भावना व्यापार की मीमांसा करते हुए उसके तीन चरणों को स्पष्ट किया गया है—(१) क्या सिद्ध करना है ? (२) किन साधनों द्वारा सिद्ध करना है ? तथा (३) किस प्रकार सिद्ध करना है ?[2] उदाहरण के लिए उपर्युक्त उदाहरण में—१—स्वर्ग सिद्ध करना

---

१. डा० प्रेमस्वरूप गुप्त : **रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन**, पृ० १६२

२. **किं भावयेत् ? केन भावयेत् ? कथं भावयेत् ?**

—लौगाक्षिभास्कर : **अर्थसंग्रह**, पृ० ६

है, २—लकड़ी, घी, सामग्री आदि के द्वारा सिद्ध करना है, तथा ३—शास्त्रीय विधि के अनुरूप सब क्रियाएँ सम्पन्न करने से ही स्वर्ग भावित होगा।

मीमांसा के इस भावनावाद के आधार पर ही काव्य में रस साध्य या भाव्य होगा तथा काव्य भावक। काव्य को भावक मान लेने पर उसमें भावकत्व व्यापार की कल्पना करना सहज हो जाता है। किन्तु भावकत्व व्यापार की कल्पना का एकमात्र आधार मीमांसा का भावनावाद ही नहीं है। उसका एक काव्य-शास्त्रीय आधार भी है जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

(ख) काव्यशास्त्र का 'भाव'—उपर्युक्त मत के साथ यह मत भी रखा जा सकता है कि भावकत्व व्यापार का आधार काव्यशास्त्र के 'भाव' शब्द में है, मीमांसा के 'भावना' शब्द में नहीं। इस मत के पक्ष में कई प्रबल तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। प्रथम तो यह कि जिस प्रकार अभिधायकत्व का मूल 'अभिधा' शब्द है उसी प्रकार भावकत्व का मूल 'भाव' शब्द ही माना जा सकता है, मीमांसा का 'भावना' शब्द नहीं। यदि कोई 'भावना' शब्द को ही भावकत्व का आधार मानना चाहे तो मीमांसा की 'भावना' (क्रिया) की अपेक्षा काव्य की 'भावना' (कल्पना) अधिक उपयुक्त है। किन्तु जब काव्य में भाव शब्द का प्रयोग होता आया है तो उसी को भावकत्व का आधार मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि 'भावकत्व' का आधार 'भावना' शब्द ही होता तो इस व्यापार का नामकरण करते हुए 'भावनाकत्व' कह सकते थे। 'भावकत्व' संज्ञा का प्रयोग ही यह बताता है कि उसका आधार 'भाव' है, 'भावना' नहीं।

दूसरी बात यह है कि भट्टनायक ने जिस प्रकार अभिधायकत्व व्यापार को वाच्य-विषयक माना है, उसी प्रकार भावकत्व व्यापार को रसादि-विषयक माना है—''तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्''—(लोचन)। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भावकत्व का आधार काव्यशास्त्र का 'भाव' है मीमांसा का 'भावना' शब्द नहीं, क्योंकि रस के साथ भाव का सम्बन्ध तो है मगर 'भावना' (क्रिया) का नहीं। जब 'भावकत्व' के आधार स्वरूप काव्यशास्त्र में 'भाव' शब्द है तो फिर कोई मीमांसा के 'भावना' शब्द को उसका आधार क्यों बनाएगा? मीमांसा के 'भावनावाद' और भट्ट नायक के 'भावकत्व व्यापार' के अर्थ में बहुत तीव्र अन्तर है। भावनावाद का सम्बन्ध है क्रिया के साथ जो एक निश्चित वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर तथा उसका सम्यक् अनुसरण करते हुए की जाती है। भावकत्व व्यापार का सम्बन्ध है भावों के विकास और रस की सिद्धि के साथ। अतएव मेरे मत में भावकत्व व्यापार का आधार काव्यशास्त्र के 'भाव' को ही मानना चाहिये, मीमांसा के भावनावाद को नहीं।

यह हो सकता है कि भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा में भट्टनायक को मीमांसा के भावनावाद से कुछ संकेत मिला हो किन्तु वस्तुतः उसकी प्रतिष्ठा 'भाव' शब्द और उसके अर्थ के आधार पर मौलिक रूप से की गई है जो कि भट्टनायक की उद्‌बुद्ध प्रतिभा के अनुकूल ही है।

भावकत्व व्यापार का स्वरूप

भावकत्व व्यापार के स्वरूप का वर्णन करते हुए भट्टनायक ने निम्नलिखित विशेषताओं की चर्चा की है :—[1]

१. काव्य में उसका लक्षण है—दोषों का अभाव, गुणों और अलंकारों का भाव; तथा नाटक में वह आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य—चतुर्विधाभिनय रूप है ;
२. प्रेक्षक के सघन मोह का विनाशक है ;
३. विभावादि का साधारणीकरण करने वाला है ; तथा
४. रस को भाव्यमान करने वाला है।

इनमें प्रथम विशेषता तो भावकत्व-व्यापार के कारण के अन्तर्गत आएगी और अन्तिम तीनों उसके फल के अन्तर्गत।

(क) कारण—भावकत्व व्यापार समग्र काव्य में होता है—दृश्य काव्य में भी और श्रव्य काव्य में भी। दोनों प्रकार के काव्य के स्वरूप आदि में पर्याप्त अन्तर है। इसलिए भावकत्व व्यापार के कारण की चर्चा करते हुए भट्ट नायक ने दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया है। दृश्य काव्य में भावकत्व व्यापार का कारण है—चतुर्विध अभिनय। अभिनय की कुशलता के अभाव में भावकत्व व्यापार का जन्म ही नहीं होगा। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि वाचिक अभिनय के अन्तर्गत श्रव्य काव्य के भी सभी लक्षण कम या अधिक मात्रा में होंगे ही। क्योंकि नाटक की भाषा में भी दोषों का अभाव होना चाहिए तथा गुणों और अलंकारों की उपस्थिति होनी चाहिए। किन्तु नाटक में इन बातों के अतिरिक्त अन्य बातें भी होनी चाहिए। इसके विपरीत श्रव्य काव्य में केवल यही तीनों विशेषताएँ होनी चाहिए। दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य की उपर्युक्त विशेषताओं को भावकत्व व्यापार का रूप और लक्षण कहा गया है। इसी से

---

१. **तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निबिड़निजमोहसंकटकारिणा, विभावादिसाधारणीकरणात्मना ऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो···।**

— अभिनव भारती, पृ० २७७

कारण रूप में उनका महत्व सर्वोपरि है। इनके अभाव में न तो भावकत्व व्यापार ही अंकुरित होगा और न फल की प्राप्ति ही होगी।

(ख) **आश्रय**--जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सभी काव्य-व्यापारों का आश्रय तो सामाजिक ही है। उसके अभाव में न तो अभिधायकत्व व्यापार हो सकता है, न भावकत्व व्यापार हो सकता है, और न भोजकत्व व्यापार ही हो सकता है। एक विशिष्ट योग्यता वाला सहृदय ही काव्य-व्यापारों का आश्रय हो सकता है।

(ग) **फल**—किसी भी व्यापार के एकाधिक कारण या फल हो सकते हैं। भावकत्व व्यापार के तीन फल होते हैं जो परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी न्यूनाधिक मात्रा में परस्पर भिन्न हैं।

१—**निज मोह का नाश**—सामान्य व्यक्ति का जीवन अनेक प्रकार की जटिलताओं एवं अभावों से ग्रसित होता है। ये जटिलताएँ एवं अभाव केवल उसके भौतिक जीवन को ही विषम नहीं बनाते वरन् उसके मानसिक जीवन को भी विशृंखल कर देते हैं तथा उसकी चेतना को मलिन बना देते हैं। मनुष्य की सब दुर्बलताओं और विषमताओं का मूल कारण है—अज्ञान या मोह। यह मोह ही सभी प्रकार की ग्रन्थियों और विभीषिकाओं का स्रोत है। मोह-ग्रस्त व्यक्ति का मन अस्वस्थ और असंतुलित होता है, उसकी बुद्धि सत्य से विमुख होती है, उसकी दृष्टि मन्द और इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में कोई भी व्यक्ति छोटे-से-छोटे कार्य को भी सफलता पूर्वक नहीं कर सकता। आत्मिक सन्तुलन और मानसिक एकाग्रता के अभाव में काव्यार्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती, फिर उसके आस्वाद का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसलिए यदि सामाजिक को रसानुभूति करनी है, तो उसके मोह का नाश—चाहे क्षणिक ही—अवश्य होना चाहिए। मोहित अवस्था रसास्वाद की घातक है। और इस मोह के विनाश का साधन काव्य में ही होना चाहिए, काव्य से बाहर नहीं। यद्यपि काव्य के अतिरिक्त योग-साधना या ज्ञान-साधना द्वारा मोह का नाश हो सकता है, मगर काव्य के आस्वाद के लिए योग-साधना की आवश्यकता नहीं होती। और इसका कारण यह है कि काव्य में एक ऐसी शक्ति होनी है जिसके द्वारा वह व्यक्ति के मोह को नष्ट कर देती है। भट्ट-नायक के मतानुसार वह शक्ति भावकत्व व्यापार में पाई जाती है जिसके प्रभाव स्वरूप सामाजिक के अज्ञान की शृंखलाएँ कुछ देर के लिये टूट जाती

हैं और उसका हृदय मुक्त,[1] होकर सहजावस्था को प्राप्त होता है। इससे सिद्ध है कि रसानुभूति आलोकमय या प्रकाशमय अवस्था में होती है।

जब हम मोह के नाश का उल्लेख करते हैं तो हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है: क्या मोह का पूर्ण या स्थायी नाश होता है या क्षणिक ? प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य के श्रवण या दर्शन से जो मोह का नाश होता है वह क्षणिक ही होता है। श्रवण या दर्शन के कुछ समय पश्चात् फिर पूर्व जैसी ही मानसिक स्थिति का आविर्भाव हो जाता है। निरन्तर काव्य के श्रवण और दर्शन से सामाजिक के मन पर स्थायी प्रभाव पड़ने लगता है और वह अपने जीवन को निश्चित एवं स्थायी रूप से ऊपर उठा सकता है।

दार्शनिक आधार—यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भट्ट नायक के युग से काव्यशास्त्र में दर्शनशास्त्र का व्यापक समावेश होने लगा था जिसका क्रम उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। भट्टनायक का रस-विवेचन दर्शनशास्त्र के गंभीर और ठोस आधार पर स्थित है जिसका विवेचन प्रसंगानुसार किया जाएगा। काव्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र के संयोग से लाभ भी हुआ है और हानि भी। सब से बड़ा लाभ तो यह हुआ कि काव्यशास्त्र दर्शनशास्त्रीय आधार पाकर अधिक गंभीर, सूक्ष्म और सम्बद्ध होने लगा, उसकी मान्यतायें अधिक उदात्त होने लगीं, उसके सिद्धान्त अधिक प्राणवान प्रतीत होने लगे। मगर इस व्यापार से एक बहुत बड़ी हानि भी हुई और वह यह कि काव्य का विवेचन करते हुए काव्यशास्त्रियों की दृष्टि जीवन की अपेक्षा दर्शनशास्त्र में अधिक उलझने लगी। यह हानिकर इसलिये हुआ कि कोई भी दार्शनिक धारा समग्र जीवन की अनेकरूप अनुभूतियों को यथार्थ रूप में ग्रहण करके नहीं चल पाई वरन् जीवन के किसी एक पहलू को लेकर ही विविध दार्शनिक मत और संप्रदाय चल पड़े। काव्यशास्त्रियों की दृष्टि काव्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र के समन्वय की ओर अधिक वेग से गतिशील हुई तथा काव्य और जीवन के बीच जो सहज सम्बन्ध है वह धूमिल होने लगा। रस के विवेचन में यह विषमता सब से अधिक खटकती है। यदि

---

१. **जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना के हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।**

—रामचन्द्रशुक्ल : **चिन्तामणि** (भाग १), पृ० १४१

रस-विवेचन के आधारभूत दार्शनिक दृष्टि पर आस्था न रहे—जैसा कि आज के युग में हो रहा है—तो रस-विवेचन का भवन धराशायी होता दिखाई देता है। यदि संस्कृत के काव्यशास्त्रियों को इतना प्रबल दार्शनिक पूर्वाग्रह न होता तो यह निश्चित है कि भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा नितान्त भिन्न ही होती।

'निबिड़निजमोहसंकटकारिणा' के दार्शनिक पक्ष के विवेचन से पूर्व भट्टनायक के युग की सांस्कृतिक चेतना के एक पक्ष का विवेचन अत्यंत आवश्यक है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि भट्टनायक तथा परवर्ती काव्य-शास्त्रियों को क्यों दर्शन का ऐसा विशेष मोह हो गया था ? वस्तुत: बौद्धमत के क्षणिकवाद के पश्चात् जब शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की तो उसके फलस्वरूप भारतीय चिन्तन में एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई। इस क्रान्ति के बीज शांकर अद्वैत में थे तथा उसी मत से इसका प्रतिवर्त्तन हुआ। एक तो पहले ही जनता पर बौद्ध क्षणिकवाद का विपरीत प्रभाव पड़ रहा था और जब उससे भी आगे बढ़कर शंकराचार्य ने संसार को मिथ्या घोषित किया तो चिन्तन के क्षेत्र में इसकी शक्तिशाली प्रतिक्रिया होना आवश्यक थी। यह प्रतिक्रिया हमें रामानुज, वल्लभ आदि वैष्णव आचार्यों के प्रयासों में लक्षित होती है। इन सारे प्रयासों का फल यह हुआ कि भारतीय चिन्तन धारा में दर्शनशास्त्र को सर्वोपरि और मूलभूत स्थान प्राप्त हुआ। कोई भी बात तब तक गंभीर और प्राणवान नहीं प्रतीत होती थी जब तक कि वह किसी दार्शनिक आधार पर न कही जाए। अतएव इस युग के सभी विद्वान् दर्शनशास्त्र में निष्णात हुआ करते थे। ऐसे युग में ही भट्ट नायक तथा परवर्ती काव्यशास्त्री हुए। वे सभी युग की प्रवृत्ति के अनुरूप ही गंभीर दार्शनिक थे। अतएव उन्होंने अपने काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों को भी अपने-अपने दार्शनिक मत के आधार पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की।

एक बात ध्यान देने की है कि सभी दार्शनिक काव्यशास्त्र की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। काव्य सम्बन्धी विवेचन उन्होंने ही किया जिनको काव्य में विशेष रुचि थी। विशुद्ध दार्शनिक तो इस प्रकार के विवेचन को हीन दृष्टि से ही देखते रहे होंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे दार्शनिक काव्य-शास्त्रियों ने काव्य का विवेचन करते हुए उसे दर्शन से गौण नहीं वरन् उसके समतुल्य रखने की चेष्टा की। दर्शनशास्त्र की उपलब्धियों को काव्य द्वारा भी प्राप्य माना जाने लगा। उपनिषद् के 'रसो वै स:' के आधार पर काव्य के रस-तत्व के विवेचन के आधार पर ही काव्य को महिमान्वित करने का अवकाश था, यह

बात दार्शनिक काव्य-शास्त्रियों से छिपी न रह सकी और उन्होंने अपना समग्र पांडित्य रस-विवेचन में प्रयुक्त कर दिया। रस-विवेचन के प्रसंग में ही भट्टनायक ने 'ब्रह्मास्वादसविधेन' कह कर काव्य और दर्शन की सम प्रतिष्ठा की चेष्टा की, जो अभिनव गुप्त में 'ब्रह्मास्वादसहोदर' के रूप में प्रकट हुई। अभिनव गुप्त ने तो कहीं-कहीं काव्य को दर्शनशास्त्र से भी विलक्षण सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने रस को सविकल्पक और निर्विकल्पक—दोनों प्रकार के ज्ञान से अग्राह्य बताकर मानो रस एवं काव्य को दर्शन से भी ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इस ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर आगे की समीक्षा अधिक सुबोध हो सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

जब हम 'निविड़निजमोहसंकटकारिणा' पर विचार करते हैं तो काव्य-शास्त्र और दर्शनशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध का स्वरूप और रहस्य तुरन्त स्पष्ट हो जाता है। मोह-विनाश का एकमात्र साधन दर्शन ही माना जाता था। दर्शनाश्रित विविध साधनाओं—ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि के द्वारा ही मोह का विनाश सम्भव समझा जाता था। वैदिक काल से लेकर भट्टनायक के पूर्व तक यही विश्वास परम्परा से चला आ रहा था। ब्रह्मज्ञान[1] से ही अज्ञान का पूर्ण नाश सम्भव था और उसके लिए उपर्युक्त विविध साधनाओं की स्वीकृति थी। इसी दर्शन का आधार लेकर शंकराचार्य ने सृष्टि के मिथ्यात्व की घोषणा की तथा ज्ञान के अतिरिक्त सभी साधनों को मोहजन्य और मोहजनक बताया। दार्शनिक भक्तों ने उधर सृष्टि को भगवान का लीला-क्षेत्र तथा आनन्द-धाम बताया और इधर काव्य-शास्त्रियों ने काव्य को मोह का विनाशक एवं आनन्द का स्रोत माना। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उसके द्वारा मोह का विनाश हो जाता है। जब दर्शन के उद्देश्य की सिद्धि काव्य से ही हो जाती है तब कौन शुष्क एवं कष्टसाध्य दर्शन की साधना की ओर प्रवृत्त होगा। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डकोपनिषद्, २।२।८

तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्रचार्योपदेशजनितेन ज्ञानेन शमदमध्यान सर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिन आनन्दरूपं सर्वानर्थदुःखायासप्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषण स्वात्मन्येव भाति सर्वदा।

—शंकराचार्य : मुण्डकोपनिषद् भाष्य, पृ० ७७-७८

ज्ञान-साधना मोह का पूर्ण नाश कर देती है किन्तु काव्य द्वारा उसका क्षणिक नाश ही होता है। 'मोह के विनाश' वाक्यांश के आधार पर हम भट्टनायक को किसी एक निर्दिष्ट दर्शन-धारा से सम्बद्ध नहीं कर सकते क्योंकि मोह का विनाश तो सभी दार्शनिक धाराओं को अभीष्ट है।

नैतिक-पक्ष : दार्शनिक दृष्टि से जो श्रेय है वह नैतिक दृष्टि से भी श्रेय होगा। किन्तु विविध दर्शन-धाराओं में पर्याप्त भिन्नता और विरोध तक पाया जाता है। इसलिए कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक दार्शनिक एवं नैतिक दृष्टि से जो श्रेय है वह दूसरी दार्शनिक-नैतिक दृष्टि से त्याज्य है। उदाहरण के लिए तांत्रिकों के लिए जो मांस, मदिरा, मैथुनादि दार्शनिक-नैतिक दृष्टि से श्रेय हैं वे वेदान्तियों के लिए सभी दृष्टियों से हेय तथा त्याज्य हैं। किन्तु एक बात ऐसी है जिसमें सभी दर्शन सहमत हैं, और वह है मोह का विनाश। यह सभी दृष्टियों से नैतिक है। मोह के द्वारा व्यक्ति और समाज के भौतिक एवं मानसिक जीवन में जो संघर्ष और द्वंद्व चलता है वह लोक के लिए बहुत अनिष्ट-कारक एवं अनैतिक होता है। मोह व्यक्ति और समाज के सभी नैतिक सिद्धान्तों को उखाड़ कर फेंक देता है। नैतिक सिद्धान्तों एवं सामाजिक मर्यादाओं के उल्लंघन का एक मात्र कारण मोह है। काव्य के निरन्तर श्रवण और मनन से मोह का आवरण क्षीण होता चला जाता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति और समाज की नैतिक चेतना स्वस्थ, सशक्त एवं प्रांजल होती चली जाती है।

काव्य द्वारा मोह-विनाश के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का एक अत्यन्त लाभ-कारी नैतिक-सामाजिक प्रभाव यह हुआ कि समाज को फिर से अपनी नीति-मर्यादाओं पर आस्था होने लगी। बौद्ध-दर्शन का क्षणिकवाद तथा शंकराचार्य का अद्वैतवाद चाहे दार्शनिक दृष्टि से कितने ही महत्त्वपूर्ण हों किन्तु तत्कालीन सामाजिक चेतना एवं नैतिक आदर्शों पर उनका कुप्रभाव पड़े बिना भी न रहा। चाहे इस कुप्रभाव का उत्तरदायित्व उन दार्शनिक धाराओं या उनके प्रतिष्ठा-पकों पर तो नहीं है, फिर भी जब हम उन धाराओं के सामाजिक-नैतिक पक्ष का विवेचन करेंगे तो हम इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि उन्होंने समाज के नैतिक आदर्शों, लौकिक मर्यादाओं तथा व्यावहारिक मूल्यों को झक-झोर डाला। समाज का नैतिक जीवन उच्छृङ्खल हो गया जिसके अनेक प्रमाण बौद्ध विहारों की प्रणय-लीलाओं तथा पाखंडी ज्ञानियों के दम्भपूर्ण-व्यभिचार में मिलते हैं। 'काव्यालापाश्चवर्जयेत' के ज्ञानियों के नारे से काव्यादि कलाओं पर जो सामाजिक आस्था थी वह भी दहल उठी। भट्टनायक ने काव्य को दर्शन के समकक्ष स्थापित कर उसे महिमान्वित किया, उसमें सामाजिक

आस्था को फिर से दृढ़ करने का प्रयास किया और इस प्रकार जीवन के नैतिक पक्ष को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से दृढ़ बनाने की चेष्टा की। तुलसी ने काव्य के द्वारा मोह का विनाश कर जनता के नैतिक-सामाजिक जीवन को कितनी दूर तक प्रभावित किया, यह हिन्दी के विद्यार्थी को भली-भाँति ज्ञात है। इसका शास्त्रीय आधार—'निबिड़ निज मोह संकटकारिणा'—स्पष्ट ही है।

२—**साधारणीकरण**—भावकत्व व्यापार का दूसरा फल है—विभावादि का साधारणीकरण। भट्ट नायक ने साधारणीकरण की प्रतिष्ठा कर काव्यशास्त्र को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त दिया है। इस पर संस्कृत तथा हिन्दी के काव्यशास्त्रियों ने बार-बार विचार किया है तथा काव्य के क्षेत्र में इसके अनन्य महत्व को सभी ने स्वीकार किया है। साधारणीकरण का सिद्धान्त न केवल भारतीय काव्यशास्त्र को वरन् संसार भर के काव्यशास्त्र को भट्ट नायक की एक महत्वपूर्ण देन है।

(क) साधारणीकरण का अर्थ—साधारणीकरण 'साधारण' शब्द से बना है। इसका अर्थ हुआ—साधारण करना। काव्य में रामादि विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न पात्र आते हैं। जब तक उनके वैशिष्ट्य का तिरोभाव न हो तब तक सामाजिक और उनके बीच व्यवधान बना रहेगा। और इस व्यवधान के होते हुए रसानुभूति संभव नहीं क्योंकि सामाजिक के मन में निज और पर की भावना बनी रहेगी। इस व्यवधान का नाश तभी हो सकता है जब कि काव्यगत पात्रों के वैशिष्ट्य का तिरोभाव हो जाए, वे सामान्य या साधारण प्रतीत होने लगें। भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप यही होता है, अर्थात् वे साधारण प्रतीत होने लगते हैं। उनके साधारण प्रतीत होने पर ही सामाजिक उनकी अनुभूति का भोग कर सकता है। इसलिए साधारणीकरण का महत्व स्पष्ट है। इसी महत्व के कारण उसे भावकत्व व्यापार की आत्मा कहा गया है।

साधारणीकरण के संबंध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—एक[1] अर्थ में तो वह एक व्यापार है तथा दूसरे अर्थ में वह एक फल है; जैसे इस प्रयोग में : "विभावादि का साधारणीकरण हो गया।" भट्टनायक ने 'विभावादि साधारणीकरणात्मना' में इसका प्रयोग फल के रूप में ही किया है।

(ख) साधारणीकरण किसका होता है—यद्यपि भट्टनायक ने यह कहा है कि विभावादि का साधारणीकरण होता है, फिर भी जब हम इस प्रश्न पर विचार

---

१. **व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः**

—विश्वनाथ : **साहित्य-दर्पण**, पृ० ३१९

करते हैं तो अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। विभिन्न विद्वानों ने इस समस्या पर विचार किया है जिसके फलस्वरूप हमारे सामने तीन मत आते हैं जो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं :

१—साधारणीकरण विभावादि का होता है।

२—साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।

३—साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।

(१) **विभावादि का साधारणीकरण**—भट्टनायक का मत वस्तुतः यही है जैसा कि 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना' से सिद्ध है। उनके अनुसार विभाव—आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव—सभी का साधारणीकरण हो जाता है—सभी अपनी-अपनी विशिष्ट सत्ताओं एवं संबंधों से मुक्त रूप में प्रतीत होते हैं। अतएव साधारणीकरण का अभिप्राय हुआ—विभावादि के वैशिष्ट्य का तिरोभाव।

किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण की व्याख्या उपर्युक्त मत से भिन्न रूप में की है। यद्यपि किसी भी प्राचीन काव्यशास्त्री ने साधारणीकरण की व्याख्या के अन्तर्गत काव्य के आलम्बन का सामाजिक का आलम्बन हो जाना नहीं माना, किन्तु शुक्ल जी ने साधारणीकरण की व्याख्या में ऐसा ही मत व्यक्त किया है।[1] यह मत भट्ट नायक के मत के अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त इस मत पर कुछ नैतिक आक्षेप भी उठाए जाते हैं जिनका विवेचन साधारणीकरण के नैतिक पक्ष के अन्तर्गत किया जाएगा।

(२) **आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण**—शुक्लजी स्वयं भी उपर्युक्त मत में स्थित नहीं रह पाए। क्योंकि कई बार ऐसा भी होता है कि शृंगार रस की रचना के श्रवण के समय सामाजिक को अपनी प्रेयसी की स्मृति आने लगेगी और "यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्त्ति उसके मन में आएगी।" अतएव सिद्ध हुआ कि यह आवश्यक नहीं कि काव्यगत आलम्बन ही

---

१. **जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।**

× × ×

तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।

—रामचन्द्र शुक्ल : **चिन्तामणि** (भाग १), पृ० २२७, २३०

सब का आलम्बन बन जाए। कभी-कभी आलम्बन उससे भिन्न भी हो सकता है किन्तु उस भिन्न आलम्बन का धर्म काव्यगत आलम्बन के धर्म के समान होना चाहिए ताकि वे दोनों एक ही भाव की व्यंजना करें। इसलिए आलम्बन के साधारणीकरण के स्थान पर आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण सिद्ध होता है।[1]

(३) **कवि की अनुभूति का साधारणीकरण**—चाहे आलम्बन का साधारणीकरण माना जाए या आलम्बनत्व धर्म का, काव्य में कई ऐसी स्थितियाँ भी आती हैं जहाँ इन दोनों में से कोई भी सिद्धान्त उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। उदाहरण के लिए जहाँ राम रावण के क्रोध का आलम्बन है, वहाँ न तो राम—आलम्बन, का साधारणीकरण होता है और न राम के समान धर्मों वाले किसी अन्य व्यक्ति की मूर्ति सामाजिक के मन में आती है अर्थात् आलम्बनत्व धर्म का भी साधारणीकरण नहीं होता। ऐसी अवस्था में सामाजिक रावण के प्रति क्षोभ आदि का अनुभव करेगा तथा उसके शील-द्रष्टा के रूप में स्थित होगा। यहाँ साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होगा जिसके अनुरूप उसने रावण के स्वरूप का निर्माण किया होगा।[2] किन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि इस विशेष स्थिति में कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है तो सर्वत्र ही उस का साधारणीकरण क्यों न मान लिया जाए, फिर आलम्बन या आलम्बनत्व

१. **कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।**

रामचन्द्र शुक्ल : **चिन्तामणि**—(भाग १), पृ० २३०

२. **जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई-न-कोई भाव थोड़ा बहुत अवश्य जगा रहता है; अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।**

—वही, पृ० २३१

धर्म के साधारणीकरण की चर्चा ही क्यों की जाए। डा० नगेन्द्र ने सर्वत्र कवि की अनुभूति का ही साधारणीकरण माना है।[1]

किन्तु इस मत के विरोध में सब से प्रबल आक्षेप यह है कि यह भट्टनायक के मत के अनुकूल नहीं। उन्होंने स्पष्ट रूप से विभावादि का ही साधारणीकरण माना है। और साधारणीकरण का अर्थ है—वैशिष्ट्य का लोप हो जाना, न कि सामाजिक में किसी पात्र के प्रति भाव-विशेष का जगना अथवा कवि की अनुभूति का सामाजिक में अंकुरित होना। वस्तुतः साधारणीकरण की व्याख्या को पात्रों के वैशिष्ट्य के लोप तक ही सीमित रखना शास्त्रानुकूल होगा। अनुभूति का जागरण बाद की अवस्था है। साधारणीकरण की इस व्याख्या के अनुरूप सभी पात्रों का—रामादि सद्पात्रों का तथा रावणादि खल-पात्रों का साधारणीकरण हो जाएगा। राम में एक महान् व्यक्ति की प्रतीति होने लगेगी और रावण में एक दुष्ट अत्याचारी की। और यह व्याख्या इस कथन के अनुकूल भी है कि 'विभावादि साधारणतया प्रतीत होते हैं।'

दार्शनिक पक्ष—अभी तक साधारणीकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन नहीं हुआ। किन्तु इसके विवेचन के मूल में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दर्शन की दो मान्यताएँ स्थित हैं। ये दो मान्यताएँ हैं—ब्रह्मवाद या सर्ववाद की तथा विशेष में सामान्य की सत्ता की। यद्यपि दोनों सिद्धान्त वस्तुतः सम्बद्ध हैं, फिर भी सुविधा की दृष्टि से दोनों का अलग-अलग विवेचन किया जाएगा।

सर्ववाद—भट्टनायक यद्यपि द्वैतवादी थे फिर भी सारी सृष्टि को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति के मानने के कारण सृष्टि के क्षेत्र में सर्ववादी कहे जा सकते हैं। यद्यपि यह सर्ववाद का एक सीमित प्रयोग है क्योंकि तत्वतः सर्ववाद का सिद्धान्त आत्मा में भी ब्रह्म की ही सत्ता को लक्ष्य करता है। किन्तु द्वैतवाद में भी अनेकरूपात्मक सृष्टि मूलतः एक ही अखंड शक्ति का विकास है। सामान्य दृष्टि से देखने पर यह खंड-खंड प्रतीत होती है और यहाँ की हरेक वस्तु अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लिए हुए है तथा अन्य विशिष्ट वस्तुओं से भिन्न है। दैनिक जीवन में हमें सृष्टि की यही विशिष्ट अनुभूति होती हैं जिसमें हम हर वस्तु को अन्य वस्तुओं

१. **अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधरणीकरण की शक्ति वर्तमान है।**

—डा० नगेन्द्र : **रीतिकाल की भूमिका**, पृ० ४७

से पृथक् देखते हैं। किन्तु उच्चतर मानसिक अवस्था की प्राप्ति पर, ज्ञान या योग-साधना के फलस्वरूप साधक को इस सृष्टि के मूल में एक अखंड सत्ता की अनुभूति होती है जिसमें सृष्टि का सारा प्रपंच, उसके सारे विभेद लीन हो जाते हैं। सृष्टि के वैशिष्ट्य का नाश हो जाता है, साधक के निजत्व का भी लोप हो जाता है और वह सृष्टि के विशिष्ट रूपों एवं व्यापारों में एक अखंड सत्ता की आनन्दमय अनुभूति करने लगता है। साधक की यह स्थिति स्थायी होती है। यही स्थिति काव्य द्वारा भी उत्पन्न की जा सकती है। भावकत्व व्यापार के फल साधारणीकरण में व्यक्ति की ऐसी ही स्थिति हो जाती है जिसमें वह वैशिष्ट्या-वगाही ज्ञान से मुक्त होकर विशुद्ध भावात्मक अखंडता की अनुभूति करता है।

उपर्युक्त विवेचन का संबंध तो उद्दीपन रूप से आए हुए बाह्य सृष्टि के रूपों एवं व्यापारों के साथ है। अब द्वैतवाद के आधार पर साधारणीकरण की व्याख्या भी दार्शनिक आधार पर की जा सकती है। सभी व्यक्तियों में एक ही आत्मा स्थित है। वह आत्मा ब्रह्म एवं उसके व्यक्तरूप सृष्टि से भिन्न है किन्तु स्वयं भी नानात्व से रहित एवं एक है। यद्यपि पृथक्-पृथक् जीवों में पृथक्-पृथक् आत्मा की स्थिति मानी जाती है किन्तु यह पृथक्ता तात्विक नहीं, व्याव-हारिक है; क्योंकि किन्हीं भी दो आत्माओं में कोई भी स्वरूपगत अन्तर नहीं है। इसलिए द्वैतवादी मतों में व्यवहार में आत्माओं को पृथक् मानते हुए भी मूलतः उनको एक ही तत्व माना जाता है। सांख्य दर्शन में भी पुरुषों की अने-कता व्यावहारिक ही है, तात्विक नहीं। इसीलिए वह भी द्वैतवादी दर्शन कह-लाता है। अतएव भट्टनायक की दार्शनिक दृष्टि के अनुसार कवि, नायक, अथवा सहृदय की आत्माएँ स्थूलतः भिन्न-भिन्न होते हुए भी सूक्ष्मतः एक ही हैं। सभी में सामान्य रूप से आत्मत्व विराजमान है। किन्तु इस मूलभूत समानता को आच्छादित करने वाले कई तत्व हैं जैसे—शरीर, कर्म, देश और काल। यदि राम के साधारणीकरण की ही समस्या पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार उपर्युक्त चारों विभेदक तत्व धीरे-धीरे विलीन होते हुए आत्मा के सामान्य रूप को प्रकाशित कर देते हैं। और आत्मा के सामान्यत्व के प्रकाश में ही अनुभूति का सामान्यत्व भी सिद्ध ही है।

लौकिक दृष्टि से देखते हुए राम का शरीर, उनके कर्म देश एवं काल सभी सहृदय के शरीर आदि से भिन्न हैं। शरीर आदि की इसी भिन्नता में ही व्यक्तित्व की पृथक्ता की प्रतीति होती है। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह विभेद बाह्य है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तो राम और सहृदय सभी में एक ही तत्व—आत्मतत्व विराजमान है। यह आत्मतत्व शरीर, कर्म, देश एवं काल आदि व्यवधानों से परे है। किन्तु इस एकता की अनुभूति तब तक नहीं हो सकती जब तक शरीर

आदि विभेदक तत्वों का ज्ञान रहता है। साधारणीकरण की अवस्था में इनके ज्ञान का तिरोभाव हो जाता है। सहृदय अपनी तथा राम की शरीरगत, कर्मगत, देशगत एवं कालगत सभी भिन्नताओं का विस्मरण कर देता है। ऐसा केवल राम के प्रसंग में ही नहीं होता वरन् सहृदय की निजी अवस्था में भी होता है—वह अपने शरीर आदि को भी भूले रहता है। परिणाम स्वरूप आत्मा अपने वैशिष्ट्यरहित एवं सामान्य रूप में व्यक्त हो जाती है। तथा राम की भावना रामत्व के वैशिष्ट्य से रहित मुक्त रूप से संचरण करने लगती है।

ऊपर द्वैतवादी दर्शन के आलोक में साधारणीकरण की जो व्याख्या की गई है उसमें एक असंगति सी रह जाती है और उस असंगति का कारण प्रकृति तथा व्यक्ति के मूल में स्थित तत्वों की भिन्नता है। क्योंकि द्वैतवादी दर्शन में प्रकृति का मूल तत्व है ब्रह्म तथा व्यक्ति का आत्मा। साहित्य में दोनों का वर्णन होता है—सृष्टि के बाह्य रूपों एवं व्यापारों का भी और व्यक्तियों का भी। यदि उन दोनों में दो भिन्न सत्ताओं की स्थिति है तो वह एकता की विशुद्ध स्थिति कैसे प्राप्त हो सकती है जो साधारणीकरण की मूल विशेषता है? क्या यह द्वैत साधारणीकरण की अवस्था में उपलब्ध साम्य को बाधित नहीं करता? अनुभव से तो यह सिद्ध है कि साधारणीकरण की अवस्था में सामाजिक को व्यक्ति तथा शेष सृष्टि के बीच भी भेद की प्रतीति नहीं होती। वह तो दोनों को अभिन्न रूप से ग्रहण करता है। वस्तुतः अद्वैतवादी दर्शन ही साधारणीकरण की व्याख्या के लिए अधिक उपयुक्त है। किन्तु भट्ट नायक ने अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त में इस असंगति का अनुभव नहीं किया। इसका एक कारण है। वह यह कि यद्यपि उन्होंने रस-विवेचन में दार्शनिक दृष्टि का उपयोग किया है, किन्तु उसका संगत एवं सम्बद्ध उपयोग रस के स्वरूप के विवेचन में ही किया है, न कि साधारणीकरण में। सच तो यह है कि उन्होंने साधारणीकरण की व्याख्या की अपेक्षा ही नहीं समझी। न केवल उन्होंने वरन् बाद के काव्यशास्त्रियों ने भी। किसी भी काव्यशास्त्री ने साधारणीकरण की व्याख्या में वैसी दार्शनिक तत्परता नहीं दिखाई जैसी कि रस के स्वरूप आदि के विवेचन में दिखाई है। अतएव यदि भट्ट नायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त को अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की छाया में नहीं परखा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यदि उन्होंने द्वैतवादी दर्शन की छाया में साधारणीकरण की परीक्षा की होती, तो उन्हें उसकी सीमा का बोध हो जाता।

अभिनव गुप्त का रस-विवेचन अद्वैत सिद्धान्त पर आधारित है। इससे जहाँ उन्होंने रस के आस्वाद आदि को भट्टनायक से भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है,

हम वस्तुओं को जातियों, उपजातियों में विभाजित ही नहीं कर सकते। किन्तु बौद्ध दर्शन सामान्य की सत्ता को नहीं मानता और इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह उपस्थित किया जाता है कि जिस तरह हम विशेष का प्रत्यक्षीकरण करते हैं उस प्रकार सामान्य का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है।

न केवल भारतीय दर्शनशास्त्र में वरन् पाश्चात्य दर्शनशास्त्र में भी सामान्य की सत्ता के विषय में मतभेद रहा है। और उसकी सत्ता के खंडन के लिए यही तर्क दिया जाता रहा है कि यदि सामान्य होता तो विशेष के समान उसका भी प्रत्यक्ष सम्भव होता।[1]

साधारणीकरण में सामान्य की सत्ता की स्वीकृति है। वस्तुतः सामान्य की सत्ता ही साधारणीकरण के सिद्धान्त का प्राण है क्योंकि साधारणीकरण की अवस्था में विशेष के वैशिष्ट्य के तिरोभाव से सामान्य का ही प्रकाशन होने लगता है। किन्तु साथ ही यह बात भी सहज स्पष्ट है कि काव्य का विषय विशेष ही हो सकता है, काव्य में रामादि का चित्रण हो सकता है, 'मनुष्यत्व' सामान्य का नहीं।[2] किन्तु शुक्लजी विशेष के इस चित्रण वाले सिद्धान्त को इतनी दूर तक खींच कर ले जाते हैं कि साधारणीकरण सिद्धान्त का खण्डन-सा

1. The existence of universals is often denied, men are apt to imagine that if they exist one should be able to find them as one finds instances of them. Hence the remark of Antisthenes—(in Greek)—'I see a horse, but not horseness' : to which Plato replied, that it was because, though he had eyes, he had no intelligence. The universal is not one of its own instances and cannot be found like them. Nevertheless to deny that there are universals is to deny all identity between different individuals.

—H. W. B. Joseph : *An Introduction to Logic*, p. 27

२. काव्य का 'विषय' सदा विशेष होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के विवेचन के द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित करना—यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। 'बिम्ब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।

—आचार्य रामचन्द्रशुक्ल : चिन्तामणि (भाग १), पृ० ११८

ही हो जाता है। यदि यह मान लिया जाए कि काव्य के श्रवण-दर्शन आदि से सहृदय की कल्पना में केवल बिम्बों की ही प्रतिष्ठा होती है और वह अन्त तक रहती है, तो साधारणीकरण का सवाल ही नहीं उठता। यद्यपि इन दोनों सिद्धान्तों में—काव्य में विशेष के चित्रण के सिद्धान्त और साधारणीकरण के सिद्धान्त में—विरोध नहीं है फिर भी शुक्लजी के 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' निबन्ध में ये दोनों विरोधी प्रदर्शित किए गए हैं और प्रथम सिद्धान्त का विशेष आग्रह होने के कारण ही शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत साधारणीकरण की व्याख्या सदोष हो गई है।[1] वस्तुतः इन दोनों सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं है। दोनों ही सत्य हैं। किसी भी नाटक आदि में रामादि विशेष पात्रों का ही चित्रण होता है, और सामाजिक उसके दर्शन में इन्हीं पात्रों का प्रत्यक्षीकरण करता है। किन्तु अन्त तक उसके मन में रामादि उसी रूप में विद्यमान रहते हैं जिस रूप में वह आरम्भ में थे, यह नहीं माना जा सकता। नाटक के दर्शन के प्रभाव स्वरूप धीरे-धीरे राम आदि का वैशिष्ट्य विलीन होने लगता है और उनका सामान्यत्व-मनुष्यत्व उभरने लगता है। मनोविज्ञान की शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि रामादि का वैशिष्ट्य उपचेतन में चला जाता है और चेतन में उनका मनुष्य रूप प्रतिष्ठित होने लगता है। इसलिए आरम्भ में जो विशेष होता है वही धीरे-धीरे वैशिष्ट्य रहित हो जाता है; और यह व्यापार ही साधारणीकरण कहलाता है। शुक्लजी ने उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में विरोध-हीनता सिद्ध करने के लिए साधारणीकरण की एक भिन्न ही परिभाषा दी है जिसकी असंगति की चर्चा पहले की जा चुकी है।

नैतिक पक्ष

साधारणीकरण व्यापार का नैतिक पक्ष भी अत्यन्त गंभीर है। साधारणीकरण की अवस्था में विभावादि तथा सामाजिक अपने निजत्व के बन्धन से मुक्त होकर अपने सहज रूप में अवस्थित होते हैं। इस अवस्था में वह मानवोचित गुणों और रूपों की यथार्थ अनुभूति करता हुआ पारस्परिक एकता एवं अभिन्नता की अनुभूति करता है। कुछ देर के लिए वह अपने बनाए कृत्रिम बन्धनों के घेरे से

---

१. **'विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं', इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप में न आकर सामन्यतः व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ संकेत के रूप में आते हैं।**

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : **चिन्तामणि,** (भाग १) पृ० २२६

बाहर निकल कर एक उच्च मानसिक भावभूमि पर विचरण करने लगता है जिसे यथार्थ में एक मानवतावादी भावभूमि कहा जा सकता है जो जन-जागरण और लोक-संगठन की प्राण है। साहित्य के इस गुण की ओर शुक्लजी की दृष्टि गई थी और उन्होंने अत्यंत सशक्त रूप से कविता के नैतिक प्रभाव का उल्लेख किया है।[1] अप्रत्यक्ष रूप से इस अनुभूति परक नैतिक प्रभाव का आधार साधारणीकरण ही है क्योंकि साधारणीकरण के अभाव में यह अनुभूति ही नहीं होगी।

जहाँ कहीं किसी पात्र के चरित्र में कोई अनैतिक लक्षण होगा वहाँ रसानुभूति में बाधा उत्पन्न हो जाती है और वहाँ रस के स्थान पर रसाभास आदि माना जाता है ; जैसे मुनि या गुरु की पत्नी के प्रति प्रदर्शित प्रेम रसाभास की कोटि में आएगा, रस की कोटि में नहीं। प्रश्न यह हो सकता है कि क्या यहाँ उस पात्र के साधारणीकरण में भी कोई बाधा आएगी ? मेरे मत में इससे उस पात्र के साधारणीकरण में कोई बाधा नहीं आएगी। उदाहरण के लिए दुराचारी रावण की सीता-विषयक रति अनैतिक है इसलिए वहाँ रसानुभूति नहीं होती। किन्तु क्या रावण का साधारणीकरण भी नहीं होता ? वस्तुतः इसमें कोई बाधा नहीं आती। वहाँ रावण साधारणीकृत रूप में एक अत्यन्त पतित और दुष्ट व्यक्ति के रूप में भावित होता है। यदि साधारणीकरण को अनुभूति से सम्बद्ध माना जाए—जैसा कि अब तक माना जाता रहा है—तब तो भावाभास, रसाभास आदि के अन्तर्गत आने वाला सारा विवेचन साधारणीकरण से संयुक्त किया जा सकता है। किन्तु मैंने साधारणीकरण की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया, इसलिए यह विवेचन भावाभास आदि के प्रसंग में ही किया जाएगा।

---

१. कविता ही मनुष्य को हृदय के स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (भाग १), पृ० १४०

रस का स्वरूप

जिस प्रकार भट्टनायक का रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विवेचन ग्रंथिल है उसी प्रकार उनके अनुसार रस का स्वरूप क्या है, यह भी एक जटिल समस्या है और इसीलिए उसके समझने में भी भ्रान्ति हो सकती है। वस्तुतः भट्टनायक का मत जिस रूप में वह आज हमें प्राप्त होता है—भावकत्व और भोजकत्व व्यापार का ही विस्तृत परिचय देता है। रसके स्वरूप के विषय में उन्होंने बहुत कम कहा है। इसीलिए आज तक उनके मतानुसार सामाजिक को ही रस का आश्रय माना जाता रहा है जब कि वस्तुतः यह गलत है। उनके भोजकत्व व्यापार के विवेचन को देखकर तथा अभिनवगुप्त के मत के पूर्वाग्रह तथा भट्टनायक की गलत व्याख्याओं के कारण सहज ही भ्रान्ति हो सकती है जिसके फलस्वरूप भोजकत्व व्यापार की विशेषताओं को रस की विशेषता मान लिया जाए। कारण यह है कि भट्टनायक ने सत्त्वोद्रेकादि भोजकत्व व्यापार के लक्षण माने हैं, रस के नहीं। अभिनवगुप्त ने सत्त्वोद्रेकादि रस के लक्षण माने हैं। हिन्दी का विद्यार्थी अभिनवगुप्त के मत को ही समझता है। उसी ज्ञान के प्रकाश में जब वह भट्टनायक के मत का विवेचन करने का उपक्रम करेगा तो वह भ्रमवश भट्टनायक द्वारा प्रयुक्त सत्त्वद्रेकादि को रस के लक्षण मान बैठेगा। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। भट्टनायक के मत में तो ये सब विशेषताएँ भोजकत्व व्यापार की ही हैं।

सत्त्वोद्रेकादि भोजकत्व व्यापार की विशेषताएँ हैं रस की नहीं, इस विषय में सन्देह का अवकाश ही नहीं है। सभी ग्रन्थों में यह विशेषताएँ भोजकत्व व्यापार के साथ ही संबद्ध दिखाई गई हैं।[1] द्वितीय, यह भी ध्यान देने योग्य है कि उसकी पहली विशेषता यह है कि वह अनुभव और स्मृति आदि व्यापारों से भिन्न है। रस-भोग अनुभव से भिन्न है, इससे यह भी स्वतः सिद्ध है कि रस का आश्रय सामाजिक नहीं हो सकता। क्योंकि यदि सामाजिक ही रस का आश्रय होता तो रस उसका एक अनुभव ही होता, उससे भिन्न नहीं।

यह कहा जा सकता है कि यदि सत्वोद्रेकादि भोजकत्व व्यापार की विशेषताएँ हैं तो इस व्यापार से जिस रस का भोग किया जाता है क्या उस रस में भी यही विशेषताएँ नहीं पाई जाएँगी ? इसका उत्तर स्पष्ट है। भोग किए

---

१. भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय निजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

—अभिनव, पृ० २७७

जाने वाले रस में भी यही विशेषताएँ स्वयमेव आ जाएँगी। मगर ये विशेषताएँ भोगीकृत रस में होंगी, भावित रस में नहीं। भोगीकृत रस में ये विशेषताएँ सहृदय के सम्पर्क से आएँगी। स्वरूपतः ये विशेषताएँ उसमें नहीं मानी जा सकतीं। अभिधायकत्व आदि व्यापार की परिभाषाओं से यह निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध है।[1] अभिधायकत्व व्यापार का सम्बन्ध वाच्यार्थ से है, भावकत्व का रसादि से और भोगकृत्व का सहृदय से। इसलिए रस के तात्विक स्वरूप का निर्धारण भावकत्व व्यापार के आधार पर ही होना चाहिए, न कि भोजकत्व व्यापार के आधार पर। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से भोजकत्व व्यापार भी रस से सम्बद्ध है। क्योंकि उस व्यापार का सम्बन्ध है सहृदय से और सहृदय ही रस का भोक्ता भी है। इसलिए सहृदय के माध्यम से भुक्त रस में वे सब विशेषताएँ आ जाएँगी जो भोजकत्व व्यापार में पाई जाती हैं। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार रस के दो रूप हुए :

१—भावित रूप, तथा
२—भोगीकृत रूप।

भावित रूप ही रस का यथार्थ विषयगत रूप है। भोगीकृत रूप तो उसका विषयिगत रूप है। दोनों में अन्तर स्पष्ट है। भावित रूप का अर्थ है रामादिगत रति का भावन।[2] प्रश्न हो सकता है कि रामादिगत रत्यादि का ही भावन रस है तो फिर रति और रस में अन्तर क्या रहा ? इसका अन्तर भावकत्व व्यापार के फल साधारणीकरण में मिलेगा। रत्यादि भाव विशिष्ट हैं और उनका साधारणीकृत रूप ही रस है। कोई भी अनुभूति जब तक विशिष्ट व्यक्ति की अनुभूति रहती है तब तक वह भाव रूप ही है। और जब वह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से मुक्त साधारणीकृत रूप में प्रतिष्ठित होती है तब वह रस रूप है। भट्टनायक की शब्दावली में यही रस का भावित रूप है। भोग इसके बाद की अवस्था है–भाविते च रसे तस्य भोगः–लोचन।

जब हम भट्टनायक के मतानुसार रस के स्वरूप का विचार करते हैं तो स्पष्टतः हमें रस के दोनों रूपों पर अलग-अलग विचार करना होगा। हमें यह देखना होगा कि भावित रस का स्वरूप क्या है और भुक्त रस का स्वरूप क्या है। जहाँ तक भावित रस के स्वरूप का प्रश्न है, भट्टनायक ने कोई विशेष बात

---

१. तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोऽशभूताः व्यापाराः। —लोचन पृ० १८८

२. भाविते-उक्त भावनाविषयीकृते। रसे रामादिगतरत्यादौ। तस्येति भावितस्यरत्यादेरित्यर्थः।

—लोचन की बालप्रिया टीका, पृ० १८३

नहीं कही। किन्तु रस के भुक्त स्वरूप में भोजकत्व व्यापार के सभी लक्षण आजाएँगे। इनकी चर्चा भोजकत्व व्यापार के विश्लेषण में ही होनी चाहिए—वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति का यही आग्रह है क्योंकि भट्टनायक ने ऐसा ही किया है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि भट्टनायक ने भावित रस का स्वरूप सर्वथा अस्पष्ट छोड़ दिया है। उसकी पहली विशेषता तो यह है कि वह साधारणीकृत भाव है। और इसी विशेषता के आधार पर हम दूसरे प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि—भावित रस दुःखमय है या सुखमय ? इस प्रश्न को भट्टनायक ने उठाया ही नहीं है फिर इसका प्रत्यक्ष उत्तर मिलने का सवाल ही पैदा नहीं होता। हाँ, इस तथ्य के आधार पर कि वह साधारणीकृत रति भाव है, यह कहा जा सकता है कि शोकादि भाव भी उस रूप में दुःख पूर्ण नहीं होंगे जिस रूप में वे व्यक्तिगत जीवन के साक्षात् अनुभव में होते हैं। कारण स्पष्ट है। साक्षात् अनुभव के शोकादि में निजत्व का गहरा भान रहता है। योग क्षेम की भावना प्रबल रहती है इसीलिये वे अधिक उद्वेगजनक होंगे। जो व्यक्ति जितना क्षुद्र, संकुचित और स्वार्थी वृत्ति का होगा उसे शोक आदि उतने ही अधिक कष्टदायक और उद्वेगकारी प्रतीत होंगे। उदार व्यक्तियों को इन भावों से वैसा कष्ट और उद्वेग नहीं होता क्योंकि उनकी दृष्टि स्वार्थ के पंक में पूर्णतः लिप्त नहीं रहती। और जब शोकादि भाव पूर्णतः साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत हों—करुणादि रस रूप में प्रस्तुत हों—तब तो उनके कष्ट और उद्वेग का नाश ही समझना चाहिये। अतएव हम कह सकते हैं कि भावित रस भी सुखात्मक ही होगा—कम से कम दुखात्मक नहीं होगा। किन्तु भट्टनायक के रस-विवेचन के प्रसंग में यह याद रखना चाहिए। भावित रस का उसी रूप में भोग नहीं होता वरन् भुक्त रस तो भोजकत्व व्यापार के प्रभाव से पूर्णतया आनन्दमय हो जाता है।

रस के द्विविध रूप-भावित और भुक्त-का दार्शनिक आधार-भट्टनायक ने जो भावित और भुक्त रस के इस द्विविध रूप की प्रतिष्ठा की है उसका आधार दर्शन का एक अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल सिद्धान्त है। जिनका उससे परिचय नहीं है उन्हें उपर्युक्त विवेचन को समझने में कठिनाई हो सकती है। इस दार्शनिक आधार के स्पष्ट हो जाने पर पीछे का सारा विवेचन अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगा।

विश्व की समग्र दार्शनिक धाराओं को चार प्रधान वर्गों में बाँटा जा सकता है। **प्रथम**, जो चेतना को मूल सत्य मानता है तथा उससे पदार्थ की उत्पत्ति मानता है; **द्वितीय**, जो पदार्थ को मूल सत्य मानता है तथा उससे चेतना की

उत्पत्ति मानता है; तृतीय, जो दोनों को मूल सत्य मानता है; चतुर्थ, जो दोनों को मिथ्या मानता है। प्रथम वर्ग को विचारवादी (प्रत्ययवादी)[1] वर्ग, द्वितीय को पदार्थवादी या भौतिकवादी, तृतीय को द्वैतवादी या समन्वयवादी तथा चतुर्थ को शून्यवादी कहते हैं। भारत में सभी प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं। किन्तु भट्टनायक पदार्थ और चेतना—दोनों सत्ताओं को मूल सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि वे द्वैतवादी हैं। उनके द्वैतवादी होने का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उन्होंने रस के पदार्थगत रूप—भावित रूप—तथा रस के विचारगत रूप—भुक्त रूप में—भेद किया है। द्वैतवादी होने पर भी वे प्रधान चेतना को ही मानते हैं क्योंकि भोग का आधार वही है। यह भारतीय अध्यात्म-वादी परम्परा के अनुकूल ही है। रस के भावित और भुक्त रूप के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है।

इस समय मेरे सामने पड़ी कई पुस्तकों में एक गीता भी पड़ी है। जब मैं इसे देखता हूँ तो इसके दो रूप स्पष्ट प्रतीत होते हैं। एक तो उसका पदार्थगत रूप है—उसके पृष्ठ, छपाई, जिल्द आदि से युक्त रूप है। दूसरा उसका एक प्रतिबिम्ब है जो मेरी आँखों के द्वारा होता हुआ मेरे मस्तिष्क पर पड़ता है। मेज पर पड़ी गीता बिम्ब है और मेरे मस्तिष्क में उसका प्रतिबिम्ब है। जो बिम्ब है वह गीता का पदार्थगत रूप है और जो प्रतिबिम्ब है वह उसका चेतना-गत रूप है। पहला एक पदार्थ है तथा दूसरा एक विचार। दोनों मिलकर एक ज्ञान या संवेदन कहलाते हैं। इसी प्रकार सभी संवेदनों के दो रूप हैं—एक पदार्थ-गत और दूसरा विचारगत। अब तनिक यह सोचिए कि हमारा मस्तिष्क किसे पकड़ता है। क्या वह पदार्थ को पकड़ता है? नहीं, वह तो उसके विचार से ही अवगत होता है। हमारा मस्तिष्क जब भी किसी वस्तु को देखता है, वस्तुतः उसके प्रतिबिम्ब, उसके विचार को ही देखता है, उस वस्तु को या उस पदार्थ को नहीं। हम परम्परा के आधार पर यह मान लेते हैं कि हमारे विचार—गीता पुस्तक का विचार, उनके उत्पादक पदार्थों—गीता पुस्तक—से मिलते-जुलते हैं।

---

१. अंग्रेजी में इस वर्ग को आईन्डियलिस्ट वर्ग कहा जाएगा। वस्तुतः आई-डियलिज्म शब्द भ्रामक है क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति दो शब्दों से संभव है—'आईडियल' (आदर्श) से और 'आईडिया' (विचार) से। वस्तुतः उसकी उत्पत्ति आईडिया से हुई है अतः उसका हिन्दी अनुवाद विचारवाद होना चाहिए। किन्तु उसका हिन्दी अनुवाद 'आदर्शवाद' होने से बड़ी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं इसीलिए यहाँ 'विचारवदी वर्ग' नम दिया गया है जो दर्शनिक दृष्टि से शुद्ध है।

मगर दार्शनिक किसी परम्परा को आधार नहीं मानता। वह तो बौद्धिक अन्वीक्षण करके यह कहेगा कि आप जब भी ज्ञान प्राप्त करते हैं पदार्थ के विचार का करते हैं, पदार्थ को आप कभी देख ही नहीं सकते। तो फिर आप कैसे कह सकते हैं कि पदार्थ का जो विचार आपके मस्तिष्क में है वह उस पदार्थ से मिलता-जुलता है ? हो सकता है कि जब उस पदार्थ का विचार जोकि चेतना में उसका प्रतिविम्ब है—चेतना के गुण-दोषों के कारण उस पदार्थ से उत्कृष्ट या निकृष्ट हो गया हो ? जैसे यदि आप अपना मुख किसी दर्पण में देखते हैं तो दर्पण के गुण आपके प्रतिविम्ब में आ जाते हैं। यदि दर्पण लहरदार है तो प्रतिविम्ब विकृत हो जाता है, यदि वह काला है तो प्रतिविम्ब भी काला पड़ जाता है। इसी प्रकार अध्यात्मवादी यह कहता है कि जब भी किसी पदार्थ का प्रतिविम्ब—विचार—मन पर पड़ता है तो मन के या चेतना के गुणों से युक्त हो जाता है। इस प्रकार पदार्थ और उसके प्रतिविम्ब—विचार या अनुभूति—के स्वरूप में भिन्नता आ सकती है।

हमारी चेतना की अवस्था पदार्थों के विचारों या अनुभूतियों को किस प्रकार प्रभावित करती है, यह हम नित्य ही देखा करते हैं। दुखी व्यक्ति को सुन्दर से सुन्दर प्राकृतिक दृश्य भी दुखदायी प्रतीत होते हैं, सुखी व्यक्ति को उनमें अतिरिक्त आनन्द की अनुभूति होती है। प्रकृति के उद्दीपन रूप में चित्रण का यही मनोवैज्ञानिक आधार है। रस-भोग के विवेचन में भट्टनायक ने इसी सत्य को पूर्ण दार्शनिकता के साथ रखा है। भावित रस यद्यपि साधारणीकृत रति ही है मगर भोजकत्व व्यापार के प्रभाव से उसी का भोग परम आनन्दमय बन जाता है। भुक्त रस के स्वरूप का विवेचन भोजकत्व व्यापार के विवेचन के अन्तर्गत होगा।

भोगकृत्व व्यापार

१. **आधार**—जिस प्रकार पहले हमने भावकत्व व्यापार के द्विविध आधारों; काव्यशास्त्रीय और दार्शनिक, की चर्चा की है उसी प्रकार भोगकृत्व व्यापार का आधार भी द्विविध है। एक का संबंध काव्यशास्त्र के साथ है जिसका मूल रूप भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है और दूसरे का संबंध शैव दर्शन से है।

काव्यशास्त्रीय आधार : रसास्वाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते समय भरत ने भात के भोग और उसके परिणाम स्वरूप अनुभूत आस्वाद का उदाहरण दिया है। इसी उदाहरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भात का भोग होता है, उसी प्रकार रस का भी भोग किया जाता है, यद्यपि भरत ने रस के लिए 'भोग' का नहीं वरन् 'आस्वादन' शब्द का प्रयोग किया

है जो भोग-व्यापार-जनित फल है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि भट्टनायक को रसास्वाद में 'भोग' शब्द के प्रयोग की प्रेरणा भरत के नाट्यशास्त्र से ही मिली।

दार्शनिक आधार : रस-भोग का जो स्वरूप भरत के आधार पर खड़ा किया जा सकता है वह स्वरूपतः लौकिक ही है, दार्शनिक नहीं। उपर्युक्त काव्यशास्त्रीय आधार के साथ शैव दर्शन के 'भोग' या 'परम भोग' के सिद्धान्त का समन्वय कर भट्टनायक ने रस-भोग और भोगकृत्व व्यापार का स्वरूप खड़ा किया है। शैव दर्शन के अनुसार 'भोग' का प्रयोग सामान्य व्यक्ति के सुख-दुःख और मोहमय अनुभव के लिए किया जाता है और 'परम भोग' का प्रयोग मुक्त आत्मा के विशुद्ध आनन्द की अनुभूति के लिए होता है। चेतना का वह व्यापार जिसके द्वारा 'भोग' सम्पन्न होता है, भोगकृत्व व्यापार कहा जाता है। भोग का स्वरूप कैसा होगा, इसका निर्णय चेतना या आत्मा की अवस्था पर होगा। जिसकी आत्मा जितनी ही विकसित होगी उसका 'भोग' भी उतना ही सात्विक और सुखमय होगा। आत्मा के गुण ही उस व्यापार में—भोगकृत्व व्यापार में प्रतिफलित होंगे जिसके फलस्वरूप भोग होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि भोगकृत्व व्यापार के सभी गुण रस-भोग में भी विद्यमान होंगे।

२. **कारण**—भोजकत्व व्यापार के कारण पर विचार करते हुए सबसे पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि काव्यात्मक शब्द के तीनों व्यापार—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व परस्पर सम्बद्ध हैं। एक के बाद दूसरे का आरम्भ हो जाता है। वे तीनों शब्द के तीन पृथक् व्यापार नहीं हैं वरन् उन्हें काव्यात्मक शब्द के प्रभावात्मक व्यापार के तीन अंश कहा जा सकता है जो एक-दूसरे से क्रमिक रूप से सम्बद्ध हैं। भावकत्व व्यापार के जन्म के लिए अभिधायत्व व्यापार का होना आवश्यक है क्योंकि जब तक सामाजिक को काव्य के वाच्यार्थ का ज्ञान नहीं होगा तब तक भावकत्व व्यापार का प्रतिवर्तन हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार भोजकत्व व्यापार के अंकुरण के लिए भावकत्व व्यापार का होना आवश्यक है क्योंकि जब तक मोह का विनाश नहीं होगा, विभावादि का साधारणीकरण नहीं होगा तथा रस का भावन नहीं होगा—ये तीनों भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत हैं—तब तक रस का भोग संभव ही नहीं। अतएव भोजकत्व व्यापार का कारण है भावकत्व व्यापार।

भावकत्व व्यापार के विवेचन में कहा गया है कि काव्य में दोषाभाव आदि तथा नाटक में चतुर्विध अभिनय की सफलता ही उसका कारण है। यही बात भोजकत्व के लिए भी कही जा सकती है। अन्तर इतना है कि भावकत्व

व्यापार का उनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और भोजकत्व व्यापार के साथ परोक्ष—अर्थात् भावकत्व व्यापार के माध्यम से। इसके अतिरिक्त सामाजिक की प्रतिभा भी भोजकत्व व्यापार का एक कारण है क्योंकि प्रतिभाहीन सामाजिक को रसास्वाद नहीं होता। इसका विवेचन पहले हो चुका है।

३. **आश्रय**—भावकत्व व्यापार के समान ही भोजकत्व व्यापार का आश्रय भी दर्शक या श्रोता ही होता है। यह उसी की चेतना का एक व्यापार है जिसका जन्म काव्यात्मक शब्द के प्रभाव से होता है। आश्रय की चेतना या आत्मा की जो अवस्था होगी वह भोजकत्व व्यापार के गुणों में स्पष्टतः व्यक्त है।

४. **स्वरूप**—भट्टनायक ने भोगकृत्व व्यापार की कई विशेषताएँ[1] बताई हैं। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भुक्त रस की भी यही विशेषताएँ होंगी :

(क) **अनुभव और स्मृति आदि से विलक्षण है :** भोगकृत्व व्यापार अनुभव आदि सभी व्यापारों से विलक्षण है। अनुभव व्यापार एक लौकिक व्यापार है जिसमें कभी तमस् की, कभी रजस् की या कभी सत्व की प्रधानता हो सकती है तथा वह प्रकाशानन्दमय नहीं होता। अनुभव से संवित् की विश्रान्ति भी नहीं होती तथा भोगकृत्व व्यापार के अन्य लक्षण भी नहीं पाए जाते। इससे स्पष्ट है कि अनुभव से यहाँ भट्टनायक का अभिप्राय लौकिक अनुभव से है। लौकिक अनुभव के विपरीत भोगकृत्व व्यापार अलौकिक है। भोगकृत्व व्यापार को अनुभव व्यापार से पृथक् मानने में यह भी सिद्ध है कि रस भी अनुभव-रूप नहीं है तथा रस का आश्रय भी सामाजिक नहीं हो सकता। भोगकृत्व व्यापार के फलस्वरूप रस का आस्वादन होता है, रस की अनुभूति होती है मगर वह अनुभूति ही रस नहीं है। वह अनभूति तो रस—भावित रस—के भोग का फल है। उदाहरण के लिए व्यक्ति भात का आस्वादन करता है, उसके रस की अनुभूति करता है, मगर वह अनुभूति ही भात नहीं है वरन् वह तो भात की अनुभूति है जो भात के भोग से उदित होती है। जिस प्रकार भात के भोग का व्यापार अनुभव से भिन्न है, उसी प्रकार भोगकृत्व व्यापार भी अनुभव से भिन्न है।

भोगकृत्व व्यापार स्मृति के व्यापार से स्पष्टतः भिन्न है क्योंकि स्मृति का केन्द्र तो कोई अतीत घटना या वस्तु हुआ करती है मगर भोगकृत्व का विषय रस प्रत्यक्ष सिद्ध है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि रस की अनुभूति स्मृति से भिन्न है।

---

१. **भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणे रजस्तमोऽनुवेध वैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकास सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय निजसंविद्वि श्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।**
—अभिनव, पृ० २७७

(ख) सत्वोद्रेक **तथा रजस् एवं तमस् का अनुवेध :** भोगकृत्व व्यापार में सत्व गुण सब से अधिक प्रभावशाली रहता है किन्तु फिर भी रजस् और तमस् का पूर्ण नाश नहीं हो जाता । अतएव रस की अनुभूति प्रधानतया सात्विक ही होती है किन्तु वह पूर्णतया सात्विक नहीं होती, उसमें रजस् और तमस् की छाया भी रहती है। कारण यह है कि तमस् का गुण है विस्तार, रजस् का द्रुति और सत्व का विकास ।[1] रसानुभूति की अवस्था में चित्त का विकास तो प्रधान रूप से होता ही है, किन्तु साथ ही चित्त में द्रुति भी आती है और विस्तार भी । अभिनवगुप्त ने रसानुभूति में केवल सत्व की ही सत्ता मानी है किन्तु उसकी अपेक्षा भट्टनायक की मान्यता अधिक संगत प्रतीत होती है ।

दार्शनिक पक्ष—उपर्युक्त तीनों गुणों के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए सांख्य दर्शन की शरण में जाना पड़ेगा । सर्वप्रथम इसी दर्शन में प्रकृति के तीन गुणों की प्रतिष्ठा हुई थी जो बाद में चलकर सभी दर्शनों ने ग्रहण की। सांख्य दर्शन ने प्रकृति की मीमांसा कर उसमें तीन गुणों की स्थिति को स्वीकार किया । वे हैं—सत्व, रजस् और तमस् । सत्वगुण प्रीति अथवा सुख को जन्म देने वाला, हलका, तथा प्रकाशवान है। रजोगुण अप्रीति अथवा दुःख-जनक, प्रवृत्ति जनक, उत्कट बनाने वाला तथा चंचलता को जन्म देने वाला है। तमोगुण विषादात्मक जड़ता को उत्पन्न करने वाला, भारी तथा इन्द्रियों को ढक देने वाला है । ये तीनों गुण, एक-दूसरे को उत्पन्न करते हैं, स्त्री-पुरुष के समान मिथुन भाव से रहते हैं तथा परस्पर भिन्न एवं विरोधी होने पर भी उसी प्रकार मिलकर कार्य करते हैं जैसे दीपक में बत्ती, मिट्टी का पात्र और तेल परस्पर भिन्न होते हुए भी परस्पर मिलकर कार्य करते हुए अन्धकार का नाश करते हैं ।[2]

इन गुणों की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि एक गुण की वृद्धि होने पर अन्य दोनों गुणों का ह्रास होता है । अतएव जब सत्वगुण का उद्रेक होगा, उस समय तमस् और रजस्—दोनों अत्यन्त क्षीण हो जाएँगे—उनका नाश नहीं

---

१. **अत्र रजसोगुणस्यानुवेधनेद्रुतिः, तमसो विस्तारःसत्वस्य विकास इति विवेकः । उक्तं हि काव्य प्रकाश सङ्केते—"यदाहि रजसोगुणस्य द्रुतिः, तमसोविस्तारः सत्वस्य विकासः तथा भोगः स्वरूपं लभत ।" इति ।**
—लोचन की बालप्रिया टीका, पृ० १८३

२. **प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।**
अन्योऽन्यभिभवाश्रयजननमिथुन वृत्तयश्च गुणाः ।।
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।।
—ईश्वर कृष्ण : **सांख्यकारिका, १२, १३**

होगा।[1] इसीलिए भट्टनायक ने भोगकृत्व व्यापार में सत्वोद्रेक के साथ-साथ रजस् और तमस् का अनुवेध भी माना है। यह मान्यता दार्शनिक दृष्टि से संगत है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भट्टनायक ने सत्व का गुण—विकास, रजस् का द्रुति, और तमस् का विस्तार माना है। सांख्य दर्शन में सत्व के गुण हैं—प्रकाश और आनन्द, इसलिए उसका उद्रेक होने पर चित्त का विकास होगा ही तथा रजस् का गुण है—इच्छा और कर्म, इसीलिए इसमें चित्त की द्रुति होगी। किन्तु तमस् का गुण सांख्य के मत में मोह और स्थिरता है और भट्ट नायक के मत में विस्तार। वस्तुतः इसमें भी कोई अन्तर्विरोध नहीं है क्योंकि तमस् में चित्त का सांसारिक वस्तुओं के प्रति अधिकाधिक मोह होता है जिससे चित्त का विस्तार होता है।

भोजकृत्व व्यापार और रस की अनुभूति में सत्व की प्रधानता मानना दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल ही है। क्योंकि सत्व के गु हैं आनन्द और प्रकाश। तथा भोगकृत्व व्यापार तथा उससे उदित रसानुभूति भी आनन्दमय तथा प्रकाशमय ही है। इन दोनों विशेषणों का प्रयोग सत्वोद्रेक के बाद भट्टनायक ने कर भी दिया है, तथा अन्त में भोगकृत्व व्यापार को ब्रह्मास्वाद के व्यापार के समान ही बताया है। अतएव भोगकृत्व व्यापार एवं तज्जन्य अनुभूति के 'आनन्द' लक्षण का विवेचन प्रकाशानन्दमय निजसंविद्विश्रान्ति और 'ब्रह्मास्वाद सविधेन' के विवेचन के बाद ही पूर्ण रूप से हो सकेगा।

नैतिक पक्ष—दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति के तीनों गुणों की जिन विशेषताओं का उल्लेख ऊपर किया गया है उनके अनुसार उन गुणों का सामाजिक-नैतिक दृष्टि से भी मूल्याङ्कन किया जा सकता है और किया भी गया है। क्योंकि सतोगुण प्रकाश[2] और ज्ञान का प्रतीक है इसलिए जब शरीर में उसकी वृद्धि होती है तो व्यक्ति में ज्ञान का उदय होता है जिसके आलोक में व्यक्ति की

---

१. **अन्योन्यविभवा इति—अन्योऽन्यं परस्पर मभिवन्तीति, प्रीत्यादिभिर्धर्मैरा विर्भवन्ति, यथा यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठ ते, यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादास्थत्यात्मकेन इति।**
—गौड़पादाचार्य : १२ वीं **सांख्याकारिका की व्याख्या**

२. **सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।**
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत॥
—गीता, १४।११

चेतना निर्मल एवं दृष्टि निर्भ्रान्त हो जाती है। उसे सत्यासत्य का स्पष्ट ज्ञान होने लगता है और वह दृढ़ता के साथ सन्मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। इस प्रकार उसका नैतिक जीवन उदात्त, सशक्त एवं रमणीय हो जाता है। अतएव नैतिक दृष्टि से सत्वगुण सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए यह कहा गया है कि सात्विक व्यक्ति उन्नति को प्राप्त होता है।[1]

रजोगुण सतोगुण से हीन है क्योंकि जब शरीर में रजोगुण की वृद्धि होती है तो उस समय लोभ, कर्म में प्रवृत्ति, कर्म के आरम्भ की इच्छा और स्पृहा का जन्म होता है।[2] ऐसी अवस्था में स्पष्टतः व्यक्ति की चेतना चंचल एवं मलिन हो जाती है, लोक एवं इच्छा के प्रभाव से बुद्धि शिथिल हो जाती है, इन्द्रियाँ मन्द पड़ जाती हैं तथा आवेश के कारण मनुष्य का सदसद् विवेक अत्यन्त क्षीण हो जाता है। अतः उसकी नैतिक दृष्टि भी दूषित हो जाती है और उसकी उन्नति बाधित हो जाती है। राजसिक व्यक्ति तामसिक व्यक्ति की अपेक्षा अच्छा है इसलिए उसे मध्य में स्थित माना गया है।[3] नैतिक दृष्टि से वह मध्यम कोटि का व्यक्ति है।

तमोगुण के उद्रेक के समय अविवेक या अन्धकार, उद्योग-शून्यता, भ्रम और मोह का जन्म होता[4] है। अतएव व्यक्ति की चेतना पूर्णतः ग्रसित और कुंठित हो जाती है—उसकी बौद्धिक चेतना लुप्त हो जाती है तथा नैतिक भावना का नाश हो जाता है। इसीलिए उस जघन्य का पतन हो जाता है।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भोगकृत्व व्यापार एवं तज्जन्य रसानुभूति मनुष्य को उच्च नैतिक स्तर पर पहुँचा कर उसकी नैतिक भावना को पोषित-पल्लवित करते हैं। जो व्यक्ति स्वभाव से ही सात्विक है, उसकी सात्विकता और अधिक गंभीर हो जाती है तथा जो राजसिक या तामसिक व्यक्ति हैं वे भी काव्य के प्रभाव से कुछ देर के लिए उच्च सात्विक भूमि पर विचरण करने लगते हैं। उस सात्विक दशा का प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ता है

---

१. **ऊर्ध्वङ्गच्छंति सत्त्वस्था** —गीता, १४।१८

२. **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।**
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभः॥—वही, १४।१२

३. **मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः** —वही, १४।१८

४. **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।**
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥—वही, १४।१३

५. **जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः।** — वही, १४।१८

तथा निरन्तर काव्य के अनुशीलन आदि से उनके नैतिक जीवन का उत्कर्ष निश्चित रूप से हो सकता है।

जैसा कि पहले कहा गया है, अभिनवगुप्त ने रसानुभूति के विवेचन में पूर्णतः सत्व का उद्रेक ही माना है—रजस् या तमस् की छाया भी उसमें स्वीकार नहीं की। उन्हीं का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने सत्व को मन की वह अवस्था माना है जिसमें रजस् और तमस् का कोई स्पर्श नहीं। साथ ही उसे बहिर्जगत से विमुख करने वाला तथा आन्तरिक जगत में स्थित करने वाला कहा है।[1] किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भट्टनायक की मान्यता जिसमें रजस् और तमस् का भी अनुवेध स्वीकार किया गया है, अधिक ग्राह्य है। भट्टनायक ने सत्वोद्रेक को भोजकत्व व्यापार का लक्षण माना है पर विश्वनाथ तो उस व्यापार को स्वीकार नहीं करते। इसलिए उन्होंने सत्वोद्रेक को अलौकिक काव्य के अर्थ-परिशीलन का फल माना है—काव्य के अर्थ-ज्ञान से अपने-आप सामाजिक में सत्व की प्रधानता आजाती है। दार्शनिक एवं नैतिक दृष्टि से उसका भी वही स्वरूप है जिसका विवेचन पहले हो चुका है।

(ग) **प्रकाशमय**—भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार को प्रकाशमय माना है। अतएव स्पष्ट है कि इसके फलस्वरूप जो रसास्वाद होता है वह भी प्रकाशमय ही होगा। पीछे भोजकत्व के दार्शनिक आधार की चर्चा करते हुए शैवदर्शन के अनुसार 'भोग' तथा 'परमभोग' का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। भोजकत्व व्यापार एक चेतन व्यापार है—आत्मा या संवित् का व्यापार है। और भावकत्व के स्वरूप-विश्लेषण में यह कहा ही जा चुका है कि उसके द्वारा मोह का नाश हो जाता है। अतः भोजकत्व व्यापार का आश्रय वह आत्मा या संवित् है जिसके अज्ञान का नाश हो चुका है। अज्ञान के आवरण के नाश के पश्चात् संवित् का प्रकाश गुण अबाध रूप से व्यक्त होने लगता है जो भोजकत्व व्यापार एवं रसानुभूति की विशेषता है। सांसारिक वस्तुओं को हम प्रकाशत्व की दृष्टि से दो वर्गों में बाँट सकते हैं—एक स्वप्रकाश वस्तुएँ—दीपादि; द्वितीय, परप्रकाश वस्तुएँ—घटादि। घटादि के प्रकाश के लिए हमें दीपादि प्रकाशक की आवश्यकता होती है, मगर दीपक को देखने के लिए हमें किसी अन्य

---

१. **"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते" इत्युक्त प्रकारो बाह्यमेय-विमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम्।**

तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः।
हेतुस्तथाविधालौकिक काव्यार्थ परिशीलनम्।

—विश्वनाथ, **साहित्यदर्पण**, परि० ३-पृ० ४९

प्रकाशक की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह अपने प्रकाश से ही देदीप्यमान है। भोजकत्व व्यापार तथा रसानुभूति दीपक के समान ही प्रकाशमय हैं।

भट्ट नायक के मन में ही रस के दो रूपों को लीजिए—भावित रूप और भुक्त रूप। भावित रूप में रस प्रकाशमय नहीं है। यदि भावित रूप में वह प्रकाशमय होता तो फिर भोजकत्व व्यापार की आवश्यकता ही नहीं थी। भावित रस तो भोजकत्व व्यापार के प्रकाश की अपेक्षा रखता है-उसी प्रकार जैसे घड़ा प्रकाशित होने के लिए दीपक के प्रकाश की अपेक्षा रखता है। हाँ, भुक्त रूप में रस प्रकाशमय है क्योंकि वह प्रकाशमय भोजकत्व व्यापार का फल है। अतएव भट्ट नायक के मतानुसार रस—भावित रस—प्रकाशमय नहीं है, भुक्त रस या रसास्वाद ही प्रकाशमय है।

अभिनव गुप्त ने भी रस को प्रकाशमय माना है, अतएव विषय के तारतम्य की रक्षा के लिए तथा पुनरुक्ति को बचाने के लिए उनके मत का विवेचन भी यहीं किया जा रहा है। मगर इस विवेचन से पूर्व एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए और वह यह कि भट्ट नायक ने जो भावित रस और भुक्त रस – ये दो रूप माने थे, अभिनव गुप्त ने दोनों को अभिन्न कर दिया। यह उनकी अद्वैतवादी दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल ही था। उन्होंने रस को आस्वाद-रूप या बोध-रूप ही माना है।[1] कारण यह है कि रस को न तो किसी प्रमाण के द्वारा जाना जा सकता है और न कारक द्वारा ही। और हेतुओं के ये ही दो प्रकार माने जाते हैं—ज्ञापक या व्यंजक, और कारक। दीपक ज्ञापक या व्यंजक हेतु है क्योंकि वह पहले से विद्यमान घटादि का ज्ञान कराता है, उन्हें प्रकाशित करता है। तथा कुम्हार, चक्र आदि घटादि के कारक हेतु हैं। किन्तु रस न तो ज्ञापक हेतु द्वारा जाना जा सकता है और न कारक हेतु द्वारा ही। तो क्या वह सर्वथा अज्ञेय है? ऐसा भी नहीं है क्योंकि उसका ज्ञान तो सभी को होता है। वह तो कृति[2]-ज्ञप्ति-भेद से विलक्षण अपने प्रकाश से ही भासित—स्वसंवेदन सिद्ध है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि रस प्रकाशमय है तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि वह व्यंग्य है? फिर व्यंजना-शक्ति की कल्पना की आवश्यकता क्यों होती है? क्योंकि व्यंजना-शक्ति दीपादि के समान व्यंजक या

---

१. **सा च रसना न प्रमाण व्यापारो न कारक व्यापारः। स्वयंतु नाप्रामाणिकः। स्वसंवेदन सिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव।** **—अभिनव, पृ० २८५**

२. **अतएवाहुः—"विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः इति।** —विश्वनाथ : **साहित्य-दर्पण, पृ० ५१**

ज्ञापक हेतु है और जब हम कहते हैं कि दीपक घटादि को प्रकाशित करता है तो इससे सिद्ध है कि घड़ा पहले से ही विद्यमान था। इसी प्रकार हम कहते हैं कि व्यंजना-शक्ति ही रस की साधिका है तो भी यह मानना चाहिए कि रस पहले से विद्यमान है तथा वह व्यंजना द्वारा प्रकाशित होता है। फिर रस का स्वप्रकाशत्व कहाँ रहा ?

विश्वनाथ ने इस आक्षेप का जो उत्तर दिया है वह वस्तुतः उत्तर कहा ही नहीं जा सकता। उन्होंने कहा है कि नैयायिक अभिधा और लक्षरणा के अतिरिक्त व्यंजना को नहीं मानते। मगर काव्यशास्त्री व्यञ्जना को मानते हैं इसलिए वे रस के व्यंग्यत्व की चर्चा करते हैं।[1] किन्तु यह तर्क बेजान है। जब रस का स्वप्रकाशत्व सिद्ध है तो फिर नैयायिकों का विरोध करने के लिए व्यञ्जना को मानकर अपनी मान्यता को खंडित करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?

वस्तुतः रस के स्वप्रकाशत्व का खंडन करने के लिए उपर्युक्त आक्षेप में जो दीप-घट-न्याय की चर्चा की गई है, वह संगत नहीं है क्योंकि घड़ा और रस दोनों एक ही कोटि की सत्ताएँ हैं ही नहीं। घट एक पदार्थ है और अभिनव गुप्त के मतानुसार रस एक अनुभूति; चर्वरणा है। सभी पदार्थ स्वप्रकाश नहीं होते किन्तु अनुभूतियाँ सभी चेतना का विकार होने के कारण स्वप्रकाश ही होती हैं।

भट्टनायक का रस-सम्बन्धी मत इसके ठीक विपरीत है। वे रस को पदार्थ मानते हैं जिसकी सिद्धि भावकत्व व्यापार से होती है। और वह स्वप्रकाश नहीं है इसीलिए उसको अनुभवगत बनाने के लिए प्रकाशमय भोजकत्व व्यापार की अपेक्षा होती है। इसके फलस्वरूप जो अनुभूति होती है वह प्रकाशमय है।

दार्शनिक आधार

भोजकत्व व्यापार या तज्जन्य रसास्वाद अथवा चर्वरणा के प्रकाशत्व की स्थापना का एक सूक्ष्म दार्शनिक आधार है। भोजकत्व व्यापार प्रकाशमय है इसलिए उसके फलस्वरूप जो रसास्वाद होता है वह भी प्रकाशमय है, अथवा रस ज्ञान-रूप है इसलिए वह प्रकाशमय है, ये तर्क कहाँ तक समीचीन हैं ? कारण यह है कि दर्शनशास्त्रों में इस बात में मतभेद है कि कोई भी ज्ञान—विचार या अनुभूति—स्वयं-प्रकाश है या नहीं। इस विषय में दो मत हैं।

---

१. अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभि रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं भवतीति।

—विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण, ५१

तो भोजकत्व व्यापार का जन्म ही हो सकता है और न रसास्वाद ही हो सकता है। इसलिए रसास्वाद के लिए यह परम आवश्यक है कि सामाजिक की चेतना बाह्य विघ्नों से विनिर्मुक्त होकर अपने सहज रूप में अवस्थित हो जाय। निज-संवद्विश्रान्ति जिस प्रकार भोजकत्व व्यापार का लक्षण है उसी प्रकार रसास्वाद का भी। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि काव्य के श्रवण या दर्शन के समय यदि कोई विरोधी विचार या भाव मन में उत्पन्न हो जाता है तो रसानु-भूति खंडित हो जाती है।

भट्टनायक ने जिस प्रकार 'निजसंविद्विश्रान्ति' भोजकत्व व्यापार का लक्षण माना है, उसी से प्रेरणा प्राप्त कर अभिनव गुप्त ने भी निर्विघ्नसंविति या निर्विघ्न संवेदना का उल्लेख किया है,[1] मम्मट ने वेद्यान्तर स्पर्श से रहित आत्मा में पर्य-वसान की बात कही है,[2] तथा विश्वनाथ ने वेद्यान्तर स्पर्श शून्य (सा०दर्प० पृ० ४८) की चर्चा की है। दार्शनिक दृष्टि से ये सभी एक ही आधार पर अवस्थित हैं। और इनका आधार है- चेतना या आत्मा जिसे शैव दर्शन में संवित् कहते हैं। अभिनव के मतानुसार लोक के सभी विघ्नों से रहित प्रतीति ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों के द्वारा पुकारी जाती है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'निजसंविद्विश्रान्ति' और 'वेद्यान्तर स्पर्श शून्यत्व' एक ही सत्य को कहने के दो प्रकार हैं। जब तक किसी अवान्तर विषय का ज्ञान है तब तक संवित् की विश्रान्ति हो ही नहीं सकती। भोजकत्व व्यापार एवं रसानुभूति की इस विशेषता का प्रत्यक्ष संबंध उसके 'आनन्द' लक्षण के साथ है। 'ब्रह्मास्वदसविधेन' और 'ब्रह्मास्वादसहोदर' प्रयोग भी रस के आनन्दा-त्मक रूप को स्पष्ट करते हैं। संवित् की विश्रान्ति के बिना न तो रसास्वाद हो सकता है और न ब्रह्मास्वाद ही। संविद्विश्रान्ति उस आस्वाद की एक अनिवार्य शर्त है।

---

१. **अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां ....।**

—अभिनव, पृ० २८४

२. वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसित ....।

—मम्मट : **काव्य-प्रकाश**, पृ० ३२

३. **तत्र विघ्नापसारकाः विभाव प्रभृतयः। तथा हि लोके सकल विघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार-निर्वेश-रसन-आस्वादन-भोग-समापत्ति-लय-विश्रान्त्या-दिशब्दैरभिधीयते।**

—अभिनव, पृ० २८०

दार्शनिक पक्ष

सभी आत्मवादी दार्शनिक, जो चैतन्य को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं, उच्चतम आनन्द की अनुभूति के लिए संविद्विश्रान्ति को आवश्यक मानते हैं। सिद्धान्त चाहे अद्वैतवादी हो चाहे द्वैतवादी, आत्मा के चांचल्य के भावमें परम आनन्द की अनुभूति नहीं की जा सकती। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि संविद्विश्रान्ति की प्राप्ति द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी दोनों प्रकार के दर्शनों के लिए आवश्यक है तो फिर भट्टनायक को द्वैतवादी ही क्यों कहा जाए ? इसके उत्तर में पहली बात तो यह है कि भट्टनायक ने रस के दो रूप—भावित एवं भुक्त—माने हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि भट्टनायक ने 'निज-संविद्विश्रान्ति' का प्रयोग किया है और अभिनव ने 'संविद्विश्रान्ति' का। भट्ट-नायक में 'निज' शब्द का प्रयोग आत्मा की पृथकता को ओर संकेत करता है। द्वैतवादी दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा एकाग्र भाव से ब्रह्म का प्रत्यक्ष करती हुई उसके आनन्द का भोग करती है। सिद्ध ब्रह्म के भावित होने पर ही, ज्ञान एवं अनुभूति का विषय हो जाने पर ही, शान्त एवं एकाग्र आत्मा ब्रह्म के आनन्द का उपभोग करती है। जिस प्रकार ब्रह्मास्वाद में आत्मा की स्थिरता; 'निजसंविद्विश्रान्ति' आवश्यक है, उसी प्रकार रसभोग के लिए भी वह अनिवार्य है।

अद्वैतवाद के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा अपने ही आनन्द का उपभोग करती है क्योंकि वह स्वयं आनन्दमय ब्रह्म है। इसीलिए अद्वैतवादी दर्शन सुषुप्ति के आधार पर निजसंविद्विश्रान्ति-जन्य आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। सुषुप्ति का यह उदाहरण दार्शनिक मत-मतान्तरों के उदय से बहुत पूर्व ही मान्य हो चुका था। प्रश्न होता है कि सुषुप्ति की अवस्था में जीव क्यों सुख का अनुभव करता है ? इसका कारण यह है कि उस समय वह अपने अधिष्ठान—ब्रह्म में वास करता है और उस समय उसे संसार के किसी ज्ञान का भान नहीं होता है। वह स्थिति वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य स्थिति है। तभी तो सुषुप्ति—गहन निद्रा संभव होती है। इसी सत्य को बहुत प्राचीन काल में ही इस प्रकार व्यक्त किया गया था—जिस प्रकार आकाश में उड़ने वाला श्येन या सुपर्ण पक्षी चारों ओर उड़ता हुआ थक कर पंखों को समेट कर घौंसले की ओर जाता है उसी प्रकार यह पुरुष भी दिन भर की थकावट के बाद अपने अन्तस् की ओर दौड़ता है, जहाँ सोने पर वह न तो कोई इच्छा करता है और न कोई स्वप्न

देखता है।[1] किन्तु यह स्थिति ज्ञानपूर्वक नहीं होती। ज्ञानपूर्वक होने पर ऐसी स्थिति मुक्ति की स्थिति कहलायेगी और उसमें ब्रह्मानन्द की अबाधित अनुभूति होगी। सुपुप्ति की अवस्था में जो संविद्विश्रान्ति होती है उसमें अज्ञान का अभाव नहीं होता, वरन् उसमें अज्ञान दब जाता है जो जागरण की अवस्था आने के साथ ही जाग उठता है।

मुक्ति की अवस्था में आत्मा का जो रूप है वह काम-रहित, पापहीन और अभय रूप है। लोक में जिस प्रकार प्रिया भार्या से आलिंगित पुरुष न किसी बाहरी विषय को जानता है, न आन्तरिक विषय को, उसी प्रकार प्राज्ञात्मा से आलिंगित पुरुष न किसी बाह्य विषय को जानता है, न आन्तरिक विषय को। वह उसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकरहित रूप है।[2]

उपर्युक्त दो उदाहरणों में दो प्रकार की संविद्विश्रान्ति की चर्चा की गई। एक वह जिसकी सिद्धि सुषुप्ति की अवस्था में होती है तथा जो प्रत्येक सामाजिक को सुलभ है। द्वितीय वह जिसकी सिद्धि मुक्ति की अवस्था में होती है तथा जिसकी प्राप्ति विशेष कठोर दीर्घ साधना के फलस्वरूप होती है। शास्त्र में संविद्विश्रान्ति के ये दो रूप ही मिलते हैं।

किन्तु काव्यशास्त्र में जिस संविद्विश्रान्ति की चर्चा की गई है वह इन दोनों से भिन्न है। न तो वह सुपुप्ति की अवस्था के समान अचेतन है और न मुक्ति की अवस्था के समान स्थायी ज्ञानमयी ही। उसका अपना एक अलग ही क्षेत्र है, एक अलग ही संसार है। उसे काव्य-संसार कहते हैं। वह उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं के बीच की स्थिति है। सुपुप्ति में जैसे संविद्विश्रान्ति होती है तथा वेद्यान्तर स्पर्श-शून्यता होती है वैसे ही इस स्थिति में भी संविद्विश्रान्ति होती है तथा अन्य विषयों के ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। किन्तु इस समानता के साथ एक भिन्नता भी है। और वह यह कि सुषुप्ति की अवस्था अचेतन अवस्था

---

१. तद् यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहृत्य पक्षौ संलायमेव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति तत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।१९

२. तद् वा अस्यैतदतिच्छन्दाअपहतपाप्माभयं रूपम्।
तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं
किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना
सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं तद् वा
अस्यैतदाप्तकाममात्मकामम् रूपं शोकान्तरम्।　　—वही, ४।३।२१

है और रसानुभूति की चेतन। उधर मुक्ति की अवस्था से भी रसानुभूति की अवस्था भिन्न है। मुक्ति स्थायी ज्ञान पर आधारित अतः स्थायी होती है किन्तु रसानुभूति काव्य के प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न एक क्षणिक स्थिति है। जब तक श्रोता काव्य का श्रवण या दर्शन करता है तब तक उसकी संवित् विश्रान्त रहती है तथा वेद्यान्तर के स्पर्श का अभाव रहता है किन्तु जैसे ही काव्य के श्रवण एवं दर्शन का अन्त होता है वह स्थिति नष्ट होने लगती है और व्यक्ति की सहज अवस्था लौट आती है। संविद्विश्रान्ति का यह दार्शनिक विवेचन आगे आनन्द के विवेचन को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

३—रसास्वाद एवं ब्रह्मास्वाद

भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार को आनन्दमय माना है तथा उसे ब्रह्मास्वाद के प्रकार के समान कहा है। स्पष्टतः भोजकत्व व्यापार की ये विशेषताएँ रस की अनुभूति में भी विद्यमान होंगी। अतएव भुक्त रस आनन्दमय और ब्रह्मास्वाद के समान ही समझना चाहिए। अभिनवगुप्त ने भोजकत्व व्यापार को तो अस्वीकार कर दिया, किन्तु रसानुभूति को आनन्दमय और ब्रह्मास्वाद के समान माना। जहाँ तक भोजकत्व व्यापार की आनन्दमयता आदि का प्रश्न है, उसकी चर्चा भोजकत्व व्यापार के दार्शनिक आधार के विवेचन में की जा चुकी है। यह एक अलौकिक आत्मिक व्यापार है अतएव उसमें आत्मा का आनन्द गुण आ ही जाता है तथा वह ब्रह्मास्वाद के प्रकार के समान सिद्ध होता है। रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद में कहाँ तक समानता या भेद है, इसकी चर्चा दार्शनिक पक्ष के विवेचन में की जायगी। भोजकत्व व्यापार या रसानुभूति की आनन्दमयता का विवेचन करते हुए एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। और वह यह कि निज मोह का नाश (भावकत्व व्यापार) सत्वोद्रेक प्रकाश, संविद्विश्रान्ति आदि सभी परस्पर संबद्ध हैं। इन सब का पर्यवसान आनन्द में ही होता है। वस्तुतः ये सभी विशेषताएँ आनन्द की साधिका हैं। इसलिए आनन्द एवं ब्रह्मास्वाद का विवेचन करते समय इन सब विशेषताओं का उल्लेख भी अनिवार्य रूप से किया जाएगा।

रस की आनन्दमयता पर यह आक्षेप किया जाता है कि रति आदि भाव ही रस रूप को प्राप्त होते हैं, तथा रति आदि भाव सुख-दुःखमय दोनों प्रकार के हैं। उदाहरण के लिए रति या हास सुखमय हैं तथा भय और जुगुप्सा दुःखमय हैं। इसलिए उन भावों से जो रस सिद्ध होते हैं वे भी उन्हीं के स्वरूप के अनुकूल सुखमय तथा दुःखमय मानने चाहिए। इस आक्षेप का निरास करने के लिए चार प्रकार के तर्क दिये गए हैं—(१) लौकिक, (२) काव्यशास्त्रीय, (३) मनोवैज्ञानिक, और (४) दार्शनिक।

(१) **लौकिक तर्क**—कोई अनुभूति दुःखात्मक है या सुखात्मक, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है—सामाजिक। जिस प्रकार शोक स्थायीभाव की उद्वेग-जनक अनुभूति की सत्ता प्रमाणित करने के लिए व्यक्ति का अनुभव ही प्रमाण है उसी प्रकार करुणादि रस की आनन्दमयता सिद्ध करने के लिए सहृदय का अनुभव ही प्रमाण माना जा सकता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि करुणादि रस की अनुभूति भी आनन्द-परक होती है। यदि वह आनन्द-परक न होती, उद्वेग जनक होती तो कोई भी करुण रस के काव्य के श्रवण या दर्शन की ओर प्रवृत्त नहीं होता।[1] प्रायः लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि उन्हें सुखान्त काव्यों की अपेक्षा दुःखान्त काव्य अधिक प्रिय होते हैं। अरस्तू ने भी कामेदी की अपेक्षा त्रासदी को कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस लौकिक अनुभव के आधार पर कह सकते हैं कि करुणादि रस सुखमय ही होते हैं।

(२) **मनोवैज्ञानिक तर्क**—यह आक्षेप कि यदि कोई भाव दुःखमय है तो उसकी रस रूप में अनुभूति भी दुःखमय ही होगी—एक मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति पर आधारित है। और वह यह कि लौकिक अनुभूति और काव्यानुभूति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ही प्रकार की अनुभूतियाँ नहीं हैं। कारण यह है कि एक का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से जीवन के साथ है, और दूसरी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहृदय के जीवन के साथ नहीं है। यदि दुर्भाग्यवश किसी व्यक्ति के निकटस्थ सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो उसे निश्चित रूप से दुःख और उद्वेग होता है। मगर जब वही व्यक्ति काव्य में नायक के किसी निकटस्थ सम्बन्धी की मृत्यु का वर्णन पढ़ता है तो दोनों परिस्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर आ जाता है। अपने पुत्र की मृत्यु पर जो दुःख होता है, वह सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में रोहित की मृत्यु के दृश्य से उत्पन्न दुःख से भिन्न है। दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति की मानसिक दशा एक-सी नहीं है। एक अवस्था में निज-पर का ज्ञान बना रहता है, दूसरी अवस्था में उस ज्ञान का विलय रहता है। इस मनोवैज्ञानिक अन्तर के आधार पर ही दोनों स्थितियों की अनुभूतियों में अन्तर स्पष्ट है।

यह सवाल किया जा सकता है कि अगर रामायणादि करुण रस-प्रधान काव्य भी आनन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं तो फिर उन्हें सुनकर आँसू क्यों आ जाते हैं? क्या इस रोने के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि करुण रस वस्तुतः दुःखदायक ही है?

---

१. **करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ॥**
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलं ।
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ॥—विश्वनाथ : **सा०दर्प०**, ३-४,५

इसका उत्तर यह है कि शोक या करुण रस की अनुभूति करते समय जो अश्रुपात होता है वह तो मन के द्रुत हो जाने का परिणाम है, चेतना की विह्वलता का प्रभाव है।[1] आनन्दातिरेक में भी चित्त की विह्वलता के कारण आंसू आ जाते हैं किन्तु इससे वह आनन्दपूर्ण भाव दुःखमय सिद्ध नहीं होता।

सभी सहृदयों की मानसिक स्थिति एक-सी नहीं होती। कोई अधिक भावुक होता है और कोई कम। इसी के अनुरूप ही कुछ व्यक्ति करुण रस के काव्यों के प्रभाव से रोने लगते हैं और अन्य नहीं रोते। मगर यदि वासना दोनों में है तो दोनों को ही रसानुभूति होती है। केवल इस जन्म की वासना ही रसानुभूति के लिए पर्याप्त नहीं है वरन् व्यक्ति में पूर्वजन्म की वासना भी होनी चाहिए। यदि केवल पूर्वजन्म की वासना से रसानुभूति हो जाती तो फिर इस जन्म के मीमांसकादिकों को भी रसानुभूति होनी चाहिए। मगर उन्हें रसानुभूति नहीं होती। इसी प्रकार यदि केवल इस जन्म की वासना को ही रसानुभूति का आधार माना जाए तो वह भी संगत नहीं होगा क्योंकि कई ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनमें इस जन्म में वासना है मगर उन्हें रसानुभूति होती ही नहीं।[2] इसमें ध्यान देने की बात यह है कि भावानुभूति करने के लिए केवल इस जन्म की वासना ही पर्याप्त है किन्तु रसानुभूति करने के लिए पूर्वजन्म की वासना का होना भी आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अन्तर भी किया गया है। किन्तु आज के आलोचक को विश्वनाथ का यह तर्क सम्भवतः मान्य नहीं होगा क्योंकि पुनर्जन्म के सिद्धान्त की सत्यता पर ही लोगों को सन्देह होने लगा है।

(३) **काव्यशास्त्रीय तर्क**—इस भौतिक सृष्टि एवं काव्यात्मक सृष्टि में अंतर है। प्राचीन काव्यशास्त्र में दृश्य-संसार के समकक्ष ही काव्य-संसार की प्रतिष्ठा की गई है और कवि को ही उसका प्रजापति माना गया है।[3] काव्यसृष्टि दृश्य-

---

१. **अश्रुपातादस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः ॥**

—विश्वनाथ : **सा०द०**, ३।८

२. **वासना चेदानीन्तना प्राक्तनी च रसास्वाद हेतुः। तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषांचिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्। उक्तं च धर्म दत्तेन-सवासननां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठ-कुड्याश्मसन्निभाः ॥**

—वही, पृ० ५३–५४

३. **अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।**

सृष्टि से विलक्षण और भिन्न है। वह प्राकृतिक बन्धनों से सर्वथा स्वतन्त्र तथा आनन्दमयी है। दृश्य-सृष्टि तो सुख-दुःख-मोह स्वभाव वाली, कार्य-कारणादि के नियमों से परवश है किन्तु कवि जिस काव्यलोक का निर्माण करता है, उसमें ये दो नहीं होते। इसीलिए कवि की निर्मिति को ब्रह्म की निर्मिति से श्रेष्ठ माना गया है।[1] इसलिए लौकिक अनुभूति शोकादि भाव; काव्यानुभूति : करुणादि रसों से भिन्न है। एक का क्षेत्र लोक है और दूसरी का काव्य। लौकिक शोक उद्वेग-जनक है। मगर वही काव्य में आकर उसी रूप को अक्षुण्ण रखता हो, ऐसी बात नहीं है। काव्य में जब शोक की अभिव्यक्ति होती है और उसके प्रभाव-स्वरूप जब वह करुण रस की अवस्था में परिणत हो जाता है, उस समय उसके स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। शोक-हर्षादि के सांसारिक कारणों से लोक में तो शोक और हर्ष का ही जन्म होता है। मगर जब वे ही लौकिक कारण काव्य में आते हैं तो अभिनवगुप्त के मत में वे अलौकिक विभावादि बन जाते हैं। इसीलिए काव्य में वे भाव सुखमय बन जाते हैं।[2] लोक से ही एक उदाहरण देते हैं : जिस प्रकार लड़ाई-झगड़े में दन्तघात, नख-क्षत आदि दुःख-दायक ही होते हैं मगर सुरत में वे ही सुखदायक प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार लोक में दुःखदायी शोकादि काव्य में सुखात्मक करुणादि का रूप धारण कर लेते हैं।[3] अभिनवगुप्त ने काव्य के विभावन व्यापार के आधार पर रसानुभूति की आनन्दमयता सिद्ध की है और भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार के आधार पर।

---

१. नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ॥
नवरसरुचिरां निर्मितामादधती भारती कवेर्जयति ॥
नियतिशक्त्या नियतरूपा सुख-दुःखमोहस्वभावा।
परमाण्वाद्युपादानकर्मादि सहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न
चहृद्यैव तैः तादृशी ब्रह्मणो निर्मितर्निर्माणम्
एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः अतएव जयति।

—मम्मट : काव्यप्रकाश, पृ० १,२

२. हेतुत्वं शोकहर्षादिगतेभ्यो लोक संश्रायत्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तं नाम लौकिकाः ॥
अलौकिक विभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रात् ॥
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः।

—विश्वनाथ : सा० दर्प०, ३।६,७,८

३. ....तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमे जायते।

—वही, पृ० ५३

(४) **दर्शनिक तर्क**—यद्यपि उपर्युक्त तीनों तर्कों का अपना-अपना महत्व है, फिर भी रस की आनन्दमयता की सिद्धि का प्रधान तर्क दार्शनिक ही है। भट्ट-नायक तथा अभिनवगुप्त—दोनों ही प्रौढ़ दार्शनिक थे और शैवमत के अनुयायी थे। भट्टनायक शैव मत की द्वैतवादी धारा से अधिक प्रभावित थे और अभिनवगुप्त अद्वैतवादी धारा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। दर्शन की सभी धाराओं का स्रोत उपनिषदों में ही मिलता है और प्रत्येक मत ने अपने-अपने स्वरूप के अनुरूप उप-निषदों से बहुत कुछ ग्रहण किया है। अतः रस की आनदन्मयता को भली-भाँति समझने के लिए उसके दार्शनिक आधार और स्वरूप का निर्भ्रान्त ज्ञान आवश्यक है।

सभी अध्यात्मवादी दर्शन ब्रह्म को आनन्दमय मानते हैं और ब्रह्मानुभूति की इसी आनन्दमयता को सब से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इसके अतिरिक्त वह ज्ञानमय अथवा प्रकाशमय भी है। ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का प्रकाशन करने के लिए यह भी कहा गया है। कि—"वह रस है। रस को ही प्राप्त कर आनन्दित होता है"—रसो वै सः। रसम् ह्येवलब्ध्वा आनन्दी भवति।" वस्तुतः ब्रह्म में चाहे; उसे शिवादि किसी भी नाम से अभिहित करें—वे सभी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख भट्टनायक ने भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार के निरूपण में, या अभिनवगुप्त ने रसानुभूति के स्वरूप के वर्णन में किया है। ब्रह्मास्वाद भी मोह का विनाशक है, प्रकाशमय है, संविद्विश्रान्ति का परिणाम है तथा अलौकिक है। उपनिषद् में ब्रह्म को विज्ञान स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप माना है तथा उसी से सृष्टि की उत्पत्ति उसी में स्थिति और संहार माना है।[1] तैत्तिरीयोपनिषद् में पहले ब्रह्म को अन्नमय कहा गया, फिर उसे प्राणमय कहा गया, फिर उसे मनो-मय कहा गया, फिर विज्ञानमय और अन्त में आनन्दमय कहा गया है। अतएव उपर्युक्त क्रम से स्पष्ट है कि 'आनन्द ब्रह्म है' यही सर्वोपरि सत्य है। अतएव आनन्द का महत्व सर्वाधिक है। ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूप-वर्णन के आधार पर ही जीव में पाँच कोशों की स्थिति मानी गई है—(१) अन्नमय कोशः रक्त, माँसादि; (२) प्राणमय कोश—पाँचों प्राण, (३) मनोमय कोश—इन्द्रियाँ और मन; (४) विज्ञानमय कोश—बुद्धि, और (५) आनन्दमय कोश जो आत्मा का सहज

---

१. **विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।........**
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनंदं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।....
—तैत्तिरीयोपनिषद्—३।५।१, ३।६।१

स्वरूप है। आगे रसानुभूति के विवेचन में इन पाँचों कोशों का उल्लेख होगा।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में जो आनन्दवादी धारा प्रवाहित हुई उसी का एक अत्यन्त आरम्भिक रूप हमें तैत्तिरीयोपनिषद् के पीछे दिए गए उद्धरण में मिलता है। जयशंकर प्रसाद ने इस आनन्दवादी धारा के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए रस की स्थापना उसी के अन्तर्गत मानी है।[1] प्राचीन भारतीय चिन्तन की यह आनन्दवादी धारा शैवागामों में प्रतिफलित होती हुई भट्टनायक और अभिनव गुप्त के प्रयासों के फलस्वरूप काव्य में रस के रूप में व्यक्त हुई।[1]

---

१. कदाचित् इन आलोचकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आरम्भिक वैदिक काल में प्रकृति-पूजा अथवा बहुदेवोपासना के युग में ही, जब 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था, तभी आत्मवाद की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई। इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे : एकेश्वरवाद के वरुण और आत्मवाद के इन्द्र प्रतिनिधि माने गए। वरुण न्यायपति राजा और विवेकपक्ष के आदर्श थे। महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्द के प्रचारक थे। वरुण को देवताओं के अधिपति पद से हटना पड़ा, इन्द्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनन्द की विचार धारा उत्पन्न की।

—जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४६,५०

आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्वसाधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य रसों की उद्भावना की थी।

—वही, पृ० ७१

२. अभिनवगुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द सिद्धान्त की अभिनेय काव्य वाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। शिव सूत्रों में लिखा है—'नर्त्तक आत्मा, प्रेक्षकाणि इन्द्रयाणि'। इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य-गोष्ठियों में प्रचलित रखा था; इसलिए उनके यहाँ रस का सांप्रदायिक प्रयोग होता था। 'विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति' (क्षेमराज)। इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है। अभिनवगुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द को पल्लवित किया। भट्टनायक ने साधारणीकरण की जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी, अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया।

—वही, पृ० ७६

तैत्तिरीयोपनिषद् के उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि दर्शन की आनन्दवादी धारा के अनुसार सारा विश्व आनन्दमय है। इस सत्य को शैव-मत की सभी धाराओं—द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी--ने स्वीकार किया। भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त दोनों ही सृष्टि को भी आनन्दमय मानते हैं। क्योंकि उसका जन्म शिव से हुआ है जो प्रकाशवपु और आनन्दमय है। भट्टनायक और अभिनव गुप्त की दार्शनिक दृष्टियों में अन्तर यह है कि भट्टनायक आत्मा को शिव रूप नहीं मानते, वरन् उसे उससे भिन्न मानते हैं—शिव और आत्मा में द्वैत को स्वीकार करते हैं किन्तु अभिनव गुप्त दोनों को अभिन्न ही मानते हैं। उनके मतानुसार आत्मा शिव के समान ही प्रकाशवपु एवं स्वतंत्र है तथा भ्रमवश अपने स्वरूप को स्वयं ही ढक लेती है और फिर उसे प्रकाशित करती है। जब अज्ञान के आवरण का नाश हो जाता है तो शिव के रस--शिव रसम्—की अनुभूति होती है।[1] जो क्रम शिव के रस के प्रकाशन या आस्वादन का है वही क्रम काव्य के रस की अनुभूति का भी है। भट्टनायक द्वैतवादी हैं और अभिनव गुप्त अद्वैतवादी। यही कारण है कि दोनों के रसास्वाद की प्रक्रिया में अन्तर है। किन्तु है दोनों का विवेचन दर्शनाश्रित। स्पष्टता के लिए दोनों के रसास्वाद की प्रक्रियाओं का विवेचन अलग-अलग किया जाएगा।

भट्टनायक का रसास्वादन : भट्टनायक के अनुसार रसास्वाद का साधन है भोजकत्व व्यापार तथा उसकी प्रक्रिया वही है जो ब्रह्मास्वाद की है। अतएव ब्रह्मास्वाद की प्रक्रिया को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। द्वैतवादी होने के कारण भट्टनायक आत्मा और ब्रह्म को दो भिन्न सत्ताओं के रूप में स्वीकार करते हैं। ब्रह्मास्वाद के लिए आत्मा में दो गुणों का होना आवश्यक है—

---

१. **आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतंत्रः**
स्वातंत्र्यनर्मरभसेन निजं स्वरूपम्।
संच्छाद्य यत्पुनरपि प्रथयेत पूर्णं
तच्च क्रमाक्रमवशादथवा त्रिभेदात्॥

एहु पआसरुउ अप्पाणउ
सच्छन्दउ ढक्कइ णिअरुउ।
पुणु पअढइ झढि अह कमवस्व
एहत परमर्थिण शिवरसु॥

छाया—एष प्रकाशरूप आत्मा स्वच्छन्दो ढौकयति निजरूपम्। पुनः प्रकटयति झटिति अथ क्रमवशाद् एष परमार्थेन शिवरसम्।

--अभिनवगुप्त : **तंत्रसार**, पृ० ७

एक, मोह् का नाश जो भावकत्व व्यापार द्वारा संपन्न होता है तथा द्वितीय, संविद्विश्रान्ति। सृष्टि को आनन्दमय मानने पर भी जीव दु:खी क्यों रहता है, इसका कारण है मोह या अज्ञान और उस अज्ञान के कारण ही आत्मा बहिर्मुखी होकर विविध विषयों में उलझी रहती है तथा अविश्रान्त रहती है। आत्मा की अविश्रान्ति ही दु:ख है। सांख्य में भी कपिल मुनि ने रजोगुण को चंचल होने के कारण ही दु:ख का जनक माना है। चाहे कोई द्वैतवाद को माने चाहे अद्वैतवाद को, मोह से जनित आत्मा की अविश्रान्ति ही दु:ख है।[1] अत: आनन्द की प्राप्ति के लिए मोह का नाश और आत्मा की विश्रान्ति आवश्यक है। यहाँ तक तो अभिनवगुप्त भी भट्टनायक से सहमत हैं। किन्तु यह तो आनन्द का अभावात्मक पक्ष है। जब आनन्द के भावात्मक पक्ष—अनुभूति, की ओर आते हैं तो अभिनवगुप्त का मत भिन्न हो जाता है।

भट्टनायक के अनुसार जब आत्मा मोह के नाश के कारण सांसारिक विषयों से विमुख होकर विश्रान्त हो जाती है, तभी वह अपने से पृथक् सत्ता रखने वाले ब्रह्म के आनन्द का आस्वाद करती है या उसका भोग करती है। जिस व्यापार के द्वारा यह भोग सिद्ध होता है वह भोजकत्व कहलाता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि आत्मा अपने से पृथक् अस्तित्व रखने वाले ब्रह्म के आनन्द का उपभोग करती है। उसी प्रकार सहृदय अपने से भिन्न सत्ता रखने वाले रस—भवित रूप—का आस्वादन करता है। और भोजकत्व व्यापार की महिमा से यह आस्वाद आनन्दमय हो जाता है। द्वैतवादी दृष्टि के अनुसार आनन्द आत्मा की स्वरूपतगत विशेषता नहीं वरन् ब्रह्म की विशेषता है। इसीलिए विश्रान्त आत्मा अपने आप में आनन्दमय स्थिति का अनुभव नहीं कर सकती। उसी के अनुरूप ही भट्टनायक ने रस की स्थिति सामाजिक में, आत्मा में नहीं मानी वरन् उससे भिन्न काव्य-सृष्टि में मानी है जिसकी सिद्धि भावकत्व व्यापार के द्वारा होती है।

अभिनव गुप्त का रसास्वाद : अद्वैतवादी आधार होने के कारण अभिनवगुप्त का रसास्वाद भट्टनायक के रसास्वाद की प्रक्रिया से भिन्न है। अभिनव के मतानुसार आत्मा और शिव दोनों अभिन्न हैं। वह शिव के समान ही प्रकाश स्वरूप, स्वतन्त्र और आनन्दमय है तथा इच्छा-ज्ञान-क्रिया से युक्त शिव का ही अणुरूप है। **शिव का संकुचित रूप आत्मा या संवित् है, वही शिव रूप में प्रकाशित हो जाती है।** अत: आत्मा स्वभाव से ही आनन्दमय

---

१. **अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम्। रजोवृत्तितां वदद्भिः।** —अभिनव, पृ० २८२

है और उसका यह स्वभाव ही परम उपादेय है ।[1] अतः यहाँ मोह के नष्ट हो जाने पर संविद्विश्रान्ति ही आनन्दरूप है—निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः । किन्तु भट्टनायक संविद्विश्रान्ति को ही आनन्द रूप नहीं मानते वरन् संविद्विश्रान्ति लक्षण वाले भोजकत्व व्यापार से भावित रस का भोग मानते हैं । यदि संविद्विश्रान्ति ही आनन्द रूप हो तो फिर न तो भोजकत्व व्यापार की आवश्यकता रहती है और न रस को सहृदय से भिन्न मानने की आवश्यकता ही । इसीलिए अभिनवगुप्त ने न तो भोजकत्व व्यापार की सत्ता को स्वीकार किया है और न रस को सहृदय से भिन्न ही माना है वरन् वह; तो उसी की विश्रान्त संवित् का प्रकाश है ।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि भट्टनायक ने जो भोजकत्व को 'ब्रह्मास्वादसविधेन' कहा या अभिनवगुप्त के मतानुसार विश्वनाथ ने उसे 'ब्रह्मानन्दमहोदर' कहा, उसका रहस्य क्या है । एक बात स्पष्ट है । और वह यह कि दोनों ने रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद को अभिन्न नहीं माना । भट्टनायक ने ब्रह्मास्वादसविधेन को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है और विश्वनाथ ने भी सहोदर कहकर दोनों की समानता की ओर संकेत किया है,

---

१. तत्र इह स्वभाव एव परमोपादेयः, स च सर्वभावानां प्रकाशरूप एव अप्रकाशस्य स्वभावतानुपपत्तेः, स च नानेकः प्रकाशस्य तदितरस्वभावानुप्रवेशायोगे स्वभावभेदाभावात्, देशकालावपि च अस्य न भेदकौ, तयोरपि तत्प्रकाशस्वभावत्वात्, इति एक एव प्रकाशः, स एव च संवित्, अर्थप्रकाशरूपा हि संवित् इति सर्वेषामत्र अविवाद एव। स च प्रकाशो न परतंत्रः, प्रकाश्यतयैव हि पारतन्त्र्यम्, प्रकाश्यता च प्रकाशान्तरापेक्षितैव, न च प्रकाशान्तरं किंचित् अस्ति इति स्वतन्त्र एकः प्रकाशः, स्वातन्त्र्यादेव च देशकालाकारावच्छेदविरहात् व्यापको नित्यः सर्वाकारनिराकार स्वभावः, तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्द शक्तिः, तच्चमत्कार इच्छा-शक्तिः, प्रकाश-रूपता चिच्छक्तिः, आमर्शात्मिकता ज्ञान शक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः इत्येवं मुख्याभिः शक्तिभिः युक्तोऽपि वस्तुत इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्ति-युक्तः अनवच्छिन्नः प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः, स एव स्वातन्त्र्यात् आत्मानम् संकुचितम् अवभासयन् अणुरिति उच्यते। पुनरपि च स्वात्मानं स्वतन्त्रतया प्रकाशयति, येन अनवच्छिन्न प्रकाश शिवरूपतयैव प्रकाशते ।
—अभिनवगुप्त : तंत्रसार, पृ० ५,६

अभिन्नता की ओर नहीं। इससे सिद्ध है कि रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद में जहाँ समानता है वहाँ भिन्नता भी है। निम्नलिखित लक्षण दोनों में समान हैं :

(१) रसास्वाद तथा ब्रह्मास्वाद दोनों में ही जीव के मोह का विनाश हो जाता है।

(२) दोनों अनुभूतियाँ प्रकाश-स्वरूप हैं।

(३) दोनों में संवित् की विश्रान्ति होती है।

(४) दोनों ही आनन्दमय हैं।

(५) दोनों ही अलौकिक हैं। यद्यपि भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार के लिए 'अलौकिक' विशेषण का प्रयोग नहीं किया, फिर भी अन्य सभी विशेषणों को देखते हुए उसे अलौकिक मान लेना अनुचित नहीं है।

(६) दोनों ही अखण्ड हैं। भट्टनायक ने 'अखण्ड' विशेषण का प्रयोग भी नहीं किया। किन्तु उन्होंने अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व को पृथक्-पृथक् व्यापार नहीं माना वरन् उन्हें एक ही काव्यात्मक शब्द के तीन अंशों के रूप में स्वीकार किया है। इससे उनकी सम्बद्धता और अखंडता का संकेत मिलता है।

दोनों अनुभूतियों में उपर्युक्त समानताओं के साथ-साथ निम्नलिखित अन्तर भी है :

(१) ब्रह्मानन्द की अनुभूति कठोर, अनवरत और दीर्घ साधना के पश्चात् होती है। यद्यपि रसानन्द की प्राप्ति के लिए भी साधना की आवश्यकता होती है, मगर दोनों में अन्तर इस बात में है कि दूसरी साधना अपेक्षाकृत सरल होती है।

(२) ब्रह्मानन्द की अनुभूति स्थायी होती है जब कि रसानन्द की अनुभूति तभी तक रहती है जब तक सहृदय काव्य का श्रवणादि करता रहता है। जैसे ही श्रवणादि समाप्त होता है, सहृदय अपनी पूर्व सांसारिक अवस्था में लौट आता है। मगर जो साधक एक बार ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर लेता है वह सदैव के लिए उसी में डूब जाता है। इसी के अनुरूप ही रसानन्द में मोह का नाश और संवित् की विश्रान्ति भी क्षणिक ही होते हैं। इस पक्ष को देखते हुए रसानन्द की दशा सुषुप्ति की दशा से मिलती-जुलती है। सुषुप्ति की अवस्था में आनन्द-लीन पुरुष जागने पर फिर से अपनी पूर्व सांसारिक अवस्था को लौट आता है। किन्तु रसानन्द जाग्रतावस्था में प्राप्त होता है।

(३) दोनों अनुभूतियों में सब से महत्वपूर्ण अन्तर—और एक हद तक विरोध यह है कि ब्रह्मानन्द की अनुभूति करने वाले पुरुष की सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वासना के पूर्ण नाश के बिना ब्रह्मास्वाद संभव ही नहीं है। किन्तु वही वासना जो ब्रह्मास्वाद में निषिद्ध है, रसास्वाद का मूल आधार है।

जिसमें वासना का अभाव है वह रसानन्द की अनुभूति नहीं कर सकता। तथा जिसमें वासना का अभाव नहीं है वह ब्रह्मानन्द की अनुभूति नहीं कर सकता। रसानुभूति की अवस्था में वासना का परिष्कार हो जाता है, मगर वह सदैव बनी रहती है। इसीलिए अद्वैत के आधार पर रस की साभिमान प्रतिष्ठा करने वाले पण्डितराज जगन्नाथ को भी रसानुभूति के विवेचन में 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिति' कहना पड़ा था—रसानुभूति में आत्मा के और सभी आवरण भंग हो जाते हैं मगर रति आदि का आवरण बना रहता है। ब्रह्मास्वाद की अनुभूति के लिए तो इस आवरण का भी नाश आवश्यक है। रसानुभूति वासना-जन्य है, ब्रह्मानुभूति वासनातीत है। जो रसानुभूति का अधिकारी है वह ब्रह्मानुभूति का अधिकारी नहीं हो सकता, और जो ब्रह्मानुभूति का अधिकारी है वह रसानुभूति का अधिकारी नहीं हो सकता।

(४) भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त दोनों ने ही रसानुभूति में सत्व का उद्रेक माना है। भट्टनायक ने उसमें रजोगुण और तमोगुण का अनुवेध भी माना है, और अभिनवगुप्त ने उसे शुद्ध सत्वप्रधान दशा से सम्बद्ध किया है। इससे भी रसानुभूति और ब्रह्मानुभूति का भेद स्पष्ट है। सत्वादि गुण प्रकृति के गुण हैं। और जब तक मनुष्य इनकी परिधि में रहता है, उसका जीवन लौकिक एवं उसकी अनुभूतियाँ प्राकृतिक ही कही जाएँगी। क्योंकि ब्रह्मानुभूति के लिए तो इन तीनों गुणों के बन्धन को काट देना आवश्यक है। सत्वगुण चाहे प्रकृति की श्रेष्ठ एवं उदात्त अवस्था का परिचायक है, फिर भी वह जीवन के बन्धन का ही कारण बनता है,[1] तथा ब्रह्मानुभूति का बाधक है।

उपर्युक्त तीसरे और चौथे तर्क के आधार पर यह स्पष्ट है कि रसानुभूति एक श्रेष्ठ एवं उदात्त कोटि की प्राकृतिक या लौकिक अनुभूति ही है। उसे ब्रह्मास्वाद सहोदर कहना एक अतिशयोक्ति ही है।

नैतिक पक्ष

वैसे तो दार्शनिक दृष्टि से जो श्रेय है वह नैतिक दृष्टि से भी महान् है। किन्तु जहाँ तक रस की आनन्दमयता का प्रश्न है, उसे न केवल दार्शनिक आधार पर वरन् नैतिक आधार पर भी पूर्णतः प्रतिष्ठित कर सकते

१. सत्त्वं रजस्तम इतिगुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमानयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥

—गीता, १४।५,६

हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय दर्शन में आनन्दवादी धारा प्रवाहित हुई जो शैव दर्शन के माध्यम से साहित्य में रस-रूप में व्यक्त हुई, उसी प्रकार नीति-शास्त्र में भी एक आनन्दवादी धारा बहुत प्राचीन काल से ही चली आ रही है। भारतीय चिन्तन की अखंड दृष्टि के कारण नैतिक आनन्दवादी धारा दार्शनिक आनन्दवादी धारा में ही समाविष्ट हुई किन्तु पश्चिम में इसका अलग विवेचन भी हुआ है।

पाश्चात्य[1] नीतिशास्त्र में तीन धाराएँ मिलती हैं—१—कर्त्तव्यवादी या विवेकवादी धारा, २—आनन्दवादी धारा, और ३—पूर्णतावादी धारा। पूर्णतावादी धारा अन्य दो धाराओं के समन्वय का फल है क्योंकि वह विवेक-सम्मत पथ पर चलते हुए व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करती है। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही आनन्द का स्रोत है। आनन्दवादी नीति-सिद्धान्त ही रस-विवेचन के अधिक अनुकूल है। आनन्दवादी[2] नीति-सिद्धान्त के चार प्रमुख रूप हैं—(१) मनोवैज्ञानिक आनन्दवाद—जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सभी कार्यों में आनन्द को ही लक्ष्य बनाता है। (२) नैतिक आनन्दवाद—जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को आनन्द को ही लक्ष्य

1. "If we describe the two opposing theories as those of Duty and Happiness, the term Perfection may appropriatey be used to characterise the middle theory, which, to a large extent, combines the other two".

—John S. Mackenzie : *A Manual of Ethics*, p128.

2. Hedonism is the general term for those theories that regard happiness or pleasure as the snpreme end of life......These theories have taken many different forms· It has been held by some that men always *do* seek pleasure; i e. that pleasure in some form is always the ultimate object of desire : whreas other Hedonists confine themselves to the view that men *ought* always to seek pleasure. The former theory has been called by Prof. Sidgwick *Psychological Hedonism*, because it simply affirms the seeking of pleasure as a psychological fact ; wheras he describes the other theory as *Ethical Hedonism*.

Again some have held that what each man seeks, or ought to seek, is his own pleasure ; while others hold that what each seeks, or ought to seek, is the pleasure of all human beings, or even of all sentient creatures. Professor Sidgwick called the former of these views *Egoistic Hedonism* ; the latter *Universalistic Hedonism*. The latter has also been called *Utilitarianism* which, however, is a very inappropriate name.

—John S. Mackenzie : *A Manual of Ethics*. p. 167.

बनाना चाहिए। इसके अनुसार आनन्द एक मूल्य है। (३) व्यक्तिवादी आनन्द-वाद—जो यह मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी आनन्द को ही लक्ष्य बनाता है अथवा उसे निजी आनन्द को ही लक्ष्य बनाना चाहिए। (४) सर्ववादी आनन्दवाद—व्यक्ति का उद्देश्य सभी का आनन्द होना है या होना चाहिए। रस का आनन्द नैतिक सर्ववादी आनन्द-धारा के अन्तर्गत रखा जा सकता है क्योंकि रस का आनन्द किसी एक व्यक्ति को नहीं, सभी सहृदय-समाज को प्राप्त होता है।

जब हम यह कहते हैं कि आनन्दवादी नीति-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का लक्ष्य आनन्द—व्यक्तिगत या सामाजिक—होना चाहिए तो वहाँ हम 'आनन्द' का प्रयोग सामान्य अर्थ में नहीं करते। कारण यह है कि आनन्दानुभूति किसी भी इच्छा की तुष्टि की अनुभूति है और व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की अच्छी और बुरी इच्छाएँ उठती रहती हैं। शुभ इच्छा की तृप्ति से भी आनन्द की अनुभूति होती है और हीन इच्छा की तुष्टि से भी। कौन सा आनन्द लक्ष्य होना चाहिए? स्पष्टतः शुभ इच्छा की तृप्ति का आनन्द ही साध्य हो सकता है। अतएव नीतिशास्त्र आनन्द के दो रूपों को स्वीकार करता है—(१) हेय रूप, (२) श्रेय रूप। अपने श्रेय रूप में ही आनन्द को साध्य समझना चाहिए। भारतीय नैतिक दृष्टि से आनन्द तीन प्रकार का माना जा सकता है—(१) तामसिक आनन्द, (२) राजसिक आनन्द, और (३) सात्विक आनन्द। सात्विक आनन्द ही नैतिक दृष्टि से श्रेय है। और भट्टनायकादि काव्य-शास्त्रियों ने रसानुभूति में सत्व को ही प्रधान माना है। इस प्रकार उसका नैतिक पक्ष स्पष्ट है।

दार्शनिक दृष्टि से पीछे पाँच कोशों का विवेचन किया गया है। उस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कोश है आनन्दमय कोश। उस दार्शनिक दृष्टि को मानने वाले व्यक्ति के लिए नैतिक दृष्टि से भी वही सर्वश्रेष्ठ है। विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश तथा अन्नमय कोश क्रमशः उसके नीचे की अवस्थाएँ हैं—दार्शनिक दृष्टि से भी और नैतिक दृष्टि से भी। इन पाँचों कोशों के आधार पर हम चार प्रकार के आनन्द की भावना कर सकते हैं—

१—**ऐन्द्रिक आनन्द**—जिसका सम्बन्ध प्रमुखतः अन्नमय तथा प्राणमय कोश के साथ है।

२—**भावना या कल्पना का आनन्द**—इसका सम्बन्ध मनोमय कोश के साथ है।

३—**बौद्धिक आनन्द**—इसका सम्बन्ध विज्ञानमय कोश के साथ है; और

४—**शुद्ध आनन्द**—आनन्दमय कोश से सम्बद्ध है। इन चार प्रकार के आनन्दों में प्रथम तीन तो नैतिक एवं अनैतिक दृष्टियों से दो-दो प्रकार के होंगे

किन्तु शुद्ध आनन्द जिस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से पावन है उसी प्रकार नैतिक दृष्टि से भी। प्रश्न हो सकता है कि काव्यानन्द उपर्युक्त चार कोटियों में से किस कोटि में आता है ? पहली बात तो यह है कि वह शुद्ध आनन्द—आत्मा का सहज आनन्द; नहीं है। यह बात काव्यानन्द एवं रसानन्द के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा में सिद्ध की जा चुकी है। वस्तुतः शुद्ध आनन्द का विवेचन दर्शनशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है, मगर अन्य तीनों आनन्दों का विवेचन प्रमुखतः नीतिशास्त्र की सीमाओं के भीतर ही आता है। आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के साथ रसानन्द का जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसका विवेचन दार्शनिक पक्ष के अन्तर्गत तथा अन्य तीनों आनन्दों का विवेचन नैतिक पक्ष के अन्तर्गत करना इसीलिए अधिक समीचीन प्रतीत हुआ। वस्तुतः काव्यानन्द न तो शुद्ध ऐन्द्रिय आनन्द है, न वह शुद्ध कल्पना का आनन्द है, और न शुद्ध बौद्धिक आनन्द ही है। वस्तुतः उसमें तीनों का समन्वय रहता है। काव्यानन्द की अनुभूति में इन्द्रियों का योग निश्चित रूप से रहता है—काव्य के श्रवण में कम और दर्शन में अधिक। यदि काव्य इन्द्रियों को ही कटु प्रतीत हो—कर्णकटु हो या रंगमंच की योजना दोष-ग्रस्त हो—तो रसानुभूति नहीं होगी। इसी प्रकार काव्य की भावना अथवा कल्पना भी उदात्त एवं चमत्कारपूर्ण होनी चाहिए और उसका बुद्धितत्व भी संगत एवं सुरम्य होना चाहिए। इस प्रकार कह सकते हैं कि काव्यानन्द, ऐन्द्रिय, कल्पनात्मक एवं बौद्धिक आनन्दों का समन्वित एवं अखंड रूप है। किन्तु यदि किसी एक तत्व में भी नैतिक भावना की अवहेलना होगी, तो आनन्द का यह सारा भवन मिट्टी में मिल जाएगा। काव्यानन्द में नैतिक भावना का कितना गहरा हाथ रहता है, इसकी चर्चा साधारणीकरण के प्रसंग में हो चुकी है। अनैतिक पात्रों--रावणादि; की अनुभूतियों में सामाजिक लीन नहीं हो सकता।

रस को आनन्दमय मानने के विविध कारणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इन सभी मतों के विपरीत भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में ऐसे आचार्य भी हुए जिन्होंने रस को सुख-दुःख-स्वभाव माना है। वे हैं—नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र। उनकी दृष्टि विशुद्ध लौकिक दृष्टि है, दार्शनिक नहीं। उन्होंने रसानंद को ब्रह्मानंद या आत्मानंद की भूमिका में रख कर नहीं देखा। उनसे भी यही प्रश्न किया जा सकता है कि फिर कोई भी पात्र दुःखमय दृश्यों को क्यों देखेगा ? इसका उत्तर उन्होंने यह दिया है कि रंगमंच की साज-सज्जा के कारण एक विशेष प्रकार की चमत्कारपूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है। उसी चमत्कार का प्रभाव यह होता है कि करुणादि दुःखपूर्ण रस भी आस्वाद्य बन जाते हैं।

खंडन

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का प्रबल तर्कों के आधार पर खंडन किया है। भट्टनायक और अभिनव के मत में दो प्रमुख भेद हैं :—

१. भट्टनायक रस-प्रतीति न स्वगत मानते हैं, न परगत वरन् भावित रस का भोग मानते हैं। अभिनव रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, अतः वे रस की स्वगत-प्रतीति के पक्ष में हैं। अतः वे भट्टनायक के स्वगत-प्रतीति के निषेध का खंडन करते हैं।

२. भट्टनायक ने भावकत्व, भोजकत्व आदि व्यापारों की कल्पना की है। अभिनव भावकत्व व्यापार को तो विभावन व्यापार के रूप में स्वीकार कर लेते हैं किन्तु भोजकत्व व्यापार का खंडन करते हैं।

१—भट्टनायक के मत पर प्रथम आक्षेप यह है कि जब वे रस की प्रतीति (स्वगत) नहीं मानते, तो बिना प्रतीति के भोग कैसे हो सकता है ? यदि भोग का अर्थ आस्वादन है तो आस्वादन भी प्रतीति रूप ही होता है। जिस प्रकार एक ही ज्ञान प्रत्यक्ष. अनुमिति आदि भिन्न-भिन्न नामों द्वारा अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार भोग, आस्वादन और प्रतीति का अर्थ भी एक ही है।[1]

वस्तुतः यह आक्षेप भ्रम पर आश्रित है। पहली बात तो यह है कि भट्टनायक रस को वस्तुगत मानते हैं—वैसे ही जैसे भात मानते हैं। यदि भात का भोग किया जा सकता है तो रस का भी भोग हो सकता है। अन्तर इतना है कि भात खाना एक स्थूल क्रिया है और रस-भोग एक सूक्ष्म मानसिक क्रिया है। इसीलिए रस-भोग के लिए भोजकत्व व्यापार की कल्पना की गई।

दूसरी बात यह कि अभिनव के मत में चाहे भोग, आस्वादन और प्रतीति का एक ही अर्थ हो, मगर भट्टनायक उनको एक नहीं मानते। क्योंकि भात की प्रतीति और भात का भोग एक ही बात नहीं है। उसी प्रकार भट्टनायक के लिए रस की प्रतीति और भोग एक ही नहीं है। प्रतीति और भोग सम्बद्ध हैं, किन्तु दोनों अभिन्न नहीं। भोजकत्व व्यापार एक चेतन व्यापार है जिसका मुख्य लक्ष्य भावित रस का भोग है। यदि प्रतीति का अर्थ आस्वादन न मानकर ज्ञान माना जाए तब तो भट्टनायक को भी रस की प्रतीति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। किन्तु रस की वह प्रतीति या ज्ञान रस-रूप नहीं है, वरन् रस की प्रतीति

१. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेतिचेत् सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यताम्, दर्शनानुमिति-श्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत्।

—अभिनव०, पृ० २७७

या ज्ञान है। अतः यदि प्रतीति और भोग के इस भेद को स्वीकार कर लिया जाए— जैसे भात की प्रतीति (ज्ञान) तथा उसके भोग में अन्तर है—तब भट्टनायक को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि रस की प्रतीति होती है। रस का भोग हो रहा है, इसमें यह सत्य अन्तर्निहित है कि रस की प्रतीति (ज्ञान) होती है।[1] वस्तुतः अभिनव ने जो उपर्युक्त आक्षेप किया है उसका कारण यह है कि वह अपने मत की दृष्टि से—जिसमें रस प्रतीति-रूप है—भट्टनायक के मत की—जिसमें रस और उसकी प्रतीति में अन्तर है—आलोचना करते हैं। इससे अभिनव का पूर्वाग्रह ही विदित होता है, मगर भट्टनायक की संगत समीक्षा नहीं होती।

अभिनव का दूसरा आक्षेप यह है कि यदि भट्टनायक रस की निष्पत्ति और प्रतीति दोनों ही नहीं मानते तो फिर उनकी दृष्टि से रस नित्य है या असत् ? क्योंकि इससे भिन्न तीसरी स्थिति तो हो ही नहीं सकती। अतएव या तो रस की उत्पत्ति मानिए या अभिव्यक्ति। उत्पत्ति मानने पर रस असत् होगा और अभिव्यक्ति मानने पर नित्य। क्योंकि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति का दार्शनिक अर्थ यह है कि वह वस्तु पहले नहीं थी, असत् थी, और नाश के बाद फिर असत् हो जाएगी। अभिव्यक्ति मानने पर रस की स्थिति अव्यक्त रूप में स्वीकार्य होगी, अतः रस नित्य माना जाएगा। प्रथम मत का आधार असत्कार्य-वाद है और द्वितीय मत का आधार सत्कार्यवाद। इन दोनों मतों का विवेचन पहले हो चुका है।

वस्तुतः यह तर्क भी दोषपूर्ण है क्योंकि इसका आधार भी अभिनव का अद्वैत-वादी पूर्वाग्रह ही है। भट्टनायक ने रस को स्वगत तथा परगत प्रतीति से भिन्न मानकर उसे एक विलक्षण पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने रस की नित्यता या अनित्यता पर दार्शनिक रूप से विचार नहीं किया। यह उनके चिन्तन का अभाव है। इसीलिए पहले कहा गया है कि भट्टनायक की अपेक्षा अभिनव ने विवेचन में दार्शनिक दृष्टि का पूर्ण उपयोग किया है। जो दार्शनिक सम्बद्धता अभिनव में है वह भट्टनायक में नहीं।

२—प्रायः यह कहा जाता है कि अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की भावकत्व और भोजकत्व संबंधी मान्यताओं का खंडन किया है। किन्तु यह मान्यता भ्रान्त है। वस्तुतः अभिनव ने भावकत्व व्यापार को भावन व्यापार के रूप में स्वीकार किया है। भट्टनायक ने भावकत्व को काव्यात्मक शब्द का व्यापार माना है। अभिनव

---

१. **अथोच्यते प्रतीतिरस्य भोगीकरणं, तच्च रत्यादिस्वरूपम्।**

—अभिनव०, पृ० २७७

ने भी उसे काव्य का व्यापार मानने में कोई आपत्ति नहीं की ।[1] किन्तु मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने विभावन व्यापार को विभावादि का व्यापार माना । भोजकत्व व्यापार पर ही उनका विशेष आक्षेप है और वह यह[2] कि जितने रस हैं उतनी ही प्रतीतियाँ होंगी और सत्वादि के अनुबंध के कारण प्रत्येक रस की कई प्रतीतियाँ होंगी । फिर केवल तीन व्यापारों से ही कैसे काम चल सकता है ? किन्तु यह तर्क भी संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि लोक में एक ही भोग-व्यापार—खाने के व्यापार—के द्वारा विविध रस वाले व्यंजनों का भोग होता है । ऐसा नहीं है कि मीठा खाने का व्यापार एक प्रकार का हो और नमकीन खाने का दूसरी प्रकार का । इसी प्रकार एक ही भोजकत्व व्यापार से सभी रसों का भोग सिद्ध होता है ।

वस्तुतः भट्टनायक और अभिनव के मतों का मूल विरोध इस बात में है कि भट्टनायक सामाजिक को रस का आश्रय नहीं मानते और अभिनव सामाजिक को ही रस का आश्रय मानते हैं । भट्टनायक पर यदि सब से बड़ा आक्षेप किया जा सकता है तो वह यही है । दार्शनिक दृष्टियों से तो अपने-अपने स्थान पर दोनों का रसास्वाद निर्दोष है—एक प्रमुखतः द्वैताश्रित है और दूसरा अद्वैताश्रित । दार्शनिक दृष्टियों से उनके मत की संगति या असंगति इस बात पर निर्भर करती है कि दोनों मतों में—द्वैत और अद्वैत में: कौन सा मत सत्य है । आज के वैज्ञानिक युग में दोनों की सत्यता ही असंदिग्ध है । आज की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते हुए अभिनवगुप्त का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि मनोविज्ञान मनोविकारों को मन में अव्यक्त रूप से विद्यमान मानता है जो काव्य के श्रवणादि से जाग्रत एवं उद्दीप्त हो जाते हैं । रस का मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय के अन्तर्गत नहीं है, इसलिए इतना संकेत ही पर्याप्त है ।

मूल्यांकन

जब भट्टनायक का मूल्यांकन करते हुए उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की ओर दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वे

---

१. यत् 'काव्येन भाव्यन्ते रसाः' इत्युच्यते तत्र विभावादि जनित चर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव ।
—अभिनव० भा०, पृ० २७७

२. यावन्तो हि रसास्तावन्त्य एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः । सत्त्वादिगुणानां चांगांगिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता ।
—वही, पृ० २७७

अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों की परंपरा को जोड़ने वाली एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी के-समान है। एक ओर तो उन्होंने भरत, लोल्लट और शंकुक के समान ही रस की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार किया है, दूसरी ओर परवर्ती आचार्यो के समान अपने रस-विवेचन को गंभीर-ठोस दार्शनिक भित्ति पर खड़ा किया। उनकी सब से पहली महत्वपूर्ण उपलब्धि है सूक्ष्म दार्शनिक आधार पर रस-विवेचन को प्रतिष्ठित करना। यद्यपि उनका दार्शनिक पक्ष अभिनव के दार्शनिक पक्ष के समान पूर्ण नहीं है किन्तु फिर भी उसकी गंभीरता असंदिग्ध है। जहाँ तक रस की वस्तुगत सत्ता की मान्यता की संगति या असंगति का प्रश्न है, भरत के विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य-रस के निश्चित रूप से दो पक्ष हैं—एक विभावादि वाला बाह्य पक्ष, द्वितीय उसका आस्वाद पक्ष। विभावादि के संश्लेष को, या उनके साधारणीकृत रूप में प्रकाशित होने पर उनके द्वारा निर्मिति भाव-प्रवण स्थिति को, यदि कोई चाहे तो रस कह सकता है। इसके विपरीत उस स्थिति की अवहेलना कर उसके आस्वादन को ही रस कहा जा सकता है। प्रथम मत भट्टनायक का है और द्वितीय अभिनवगुप्त का। विभावादि का संयोग रसानुभूति से पृथक् अस्तित्व रखता है। इस संयुक्त सत्ता को भी पर्याप्त महत्व मिलना चाहिए। भट्टनायक ने रस के दो रूपों–भावित और भुक्त–को स्वीकार कर रस के दोनों पक्षों–वस्तुगत पक्ष, और चेतनागत पक्ष या आस्वाद–को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। अभिनव ने रस की वस्तुगत सत्ता को अस्वीकार कर उसकी विषयीगत सत्ता को ही स्वीकार किया है। वस्तुतः इस मत-भेद का आधार दर्शन की दो धाराएँ हैं—एक वह जो पदार्थ का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करती है—भौतिकवादी धारा; द्वितीय वह जो चेतना से पृथक् पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करती—विचारवादी धारा। आज तक दर्शन की इन दोनों धाराओं का न तो समन्वय ही किया जा सका है और न उनमें से किसी एक की सत्यता एवं द्वितीय का मिथ्यात्व ही सर्वमान्य रूप में सिद्ध किया जा सका है। यदि दार्शनिक चिन्तन का यह मूल-भूत भेद रस-विषयक मान्यताओं में भी दो रूपों में—वस्तुवादी एवं भाववादी रूपों में प्रकट हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

रस-निष्पत्ति का विवेचन करते हुए भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा की है। यह प्रतिष्ठा उनकी एक स्थायी देन है जो विभावन व्यापार के रूप में बाद के आचार्यों को भी मान्य हुई। भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत ही उनका साधारणीकरण सिद्धान्त है जो अपनी सूक्ष्म उपयोगिता में रस-विवेचन का प्राण बन गया। इनका साधारणीकरण सिद्धान्त बाद के आचार्यों को पूर्ण-तया स्वीकार हुआ।

यद्यपि भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत भोजकत्व व्यापार बाद में मान्य नहीं हुआ किन्तु फिर भी उन्होंने जो विशेषताएं उस व्यापार की बताई थीं वे सभी बाद के रस-विवेचन में स्वीकृत की गईं; केवल उनकी स्वीकृति का प्रकार बदल गया। भट्टनायक ने सत्वोद्रेकादि को भोजकत्व व्यापार का लक्षण बनाया था जिसके परिणाम स्वरूप वे रसानुभूति के भी लक्षण समझे जाने चाहिए। अभिनव गुप्त ने भोजकत्व व्यापार को बीच से हटाकर उन्हें सीधे-सीधे रसास्वाद का लक्षण मान लिया। इस प्रकार रसानुभूति के स्वरूप का सर्वप्रथम गंभीर विवेचन भट्टनायक में मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम रस-विवेचन की परंपरा में भट्टनायक को एक युगान्तरकारी काव्यशास्त्रकार के रूप में मान सकते हैं।

षष्ठम् अध्याय

अभिनव गुप्त

रस-निष्पत्ति

अभिनवगुप्त ने भरत के रस-सूत्र के आधार पर ही अपना रस-निष्पत्ति संबंधी मत प्रस्तुत किया है। लोक में जो भावादि के कारण, कार्य तथा सहकारी कारण कहलाते हैं, वे ही काव्य के अन्तर्गत विभावनादि व्यापारों के कारण अलौकिकत्व को प्राप्त होते हैं और विभावादि के नाम से अभिहित किये जाते हैं।[1] इस प्रकार अभिनव ने लौकिक कारणादि तथा विभावादि का अन्तर स्पष्ट करके विभावादि का अलौकिकत्व सिद्ध किया और इसी आधार पर आगे चलकर रस का अलौकिकत्व भी। इन्हीं विभावादि के प्रभाव से सामा-

१. तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपर चित्तवृत्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि: —अभिनव—पृ०, २८४

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानिच।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्योः॥
विभावा अनुभावस्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥

—मम्मट : काव्य-प्रकाश, ४। २७,२८

जिक में वासना रूप से स्थित रति आदि भाव शृंगारादि रस रूप में प्रकाशित हो जाते हैं। अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ—अभिव्यक्ति, और रस तथा विभावादि के पारस्परिक संयोग का अर्थ हुआ व्यंग्य-व्यंजक भाव।

जब यह कहा जाता है कि विभावादि द्वारा व्यक्त होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि विभावादि के अभाव में वे असत् हो जाते हैं। वस्तुतः वासना रूप में वे सभी प्राणियों में विद्यमान रहते हैं।[1] जिस प्रकार जल के छींटे देने से मिट्टी में अव्यक्त रूप से विद्यमान गन्ध व्यक्त हो जाती है उसी प्रकार विभावादि के प्रभाव से रत्यादि स्थायीभाव व्यक्त हो जाते हैं तथा रस रूप को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा में दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों का उपयोग किया गया है। यह अभिनव की सर्वतोमुखी प्रतिभा की ही उपलब्धि है। उन्होंने स्थायीभावों का उल्लेख भी परस्पर सम्बद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। प्राणी जन्म से ही विविध वासनाओं से युक्त होता है। जो अधिक स्थायी हैं उनकी गणना स्थायी भावों के अन्तर्गत और जो क्षणस्थायी हैं उनकी गणना व्यभिचारी भावों के अन्तर्गत होती है। सभी प्राणी दुःख से विरक्त तथा सुख की ओर आकृष्ट होते हैं।[2] इसलिये सभी व्यक्ति अपने उत्कर्ष की साधिका रमण की इच्छा से युक्त होते हैं। यह रति-भाव है। हास का मूल है रमणेच्छा से जन्य दूसरों का उपहास। प्रिय वस्तु के वियोग से दुःख का, शोक का जन्म होता है। उस वियोग के कारणों पर वह क्रोध करता है। यदि उसमें उनका सामना करने का सामर्थ्य नहीं है तो वह उनसे भय का अनुभव करता है। जब वह किसी को प्राप्त करने की इच्छा करता है तो उत्साह का उदय होता है। कभी किसी अनुचित वस्तु से विमुख होकर उसे अनभीष्ट मानता हुआ उससे घृणा करने लगता है। अपने तथा अन्य व्यक्तियों के आश्चर्यजनक

---

१. न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः। वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। —अभिनव, प० २८२

२. स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथाहि—'दुखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादन सादरः' इति न्यायेन सर्वो रिरंसयाव्याप्त : स्वात्मन्युत्कर्षमनीतया, परमुपहसन, अभीष्टवियोगसन्तप्त :, तद्धेतुषु कोपपरवशः, अशक्तौ च ततोभीरुः, किंचिदर्जिजीषुरपि, अनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः, किञ्चिदनभीष्टतयाभिमन्यमानः, तत्तत्स्वपरकर्तव्यदर्शनसमुदितविस्मयः, किंचिच्च जिहासुरेव जायते। —अभिनव०, प० १

कार्यों को देखकर विस्मय से भर जाता है, और जब वह किसी को त्याग देने की इच्छा करता है तो यहीं से निर्वेद का उदय होता है। स्थायीभाव के अन्तर्गत व्यभिचारियों की स्थिति वैसी ही है जैसी माला में मूंगा, नीलम, हीरे आदि की। मूंगा नीलमादि अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त हैं, परस्पर एक-दूसरे की छाया को ग्रहण करते हैं, सभी सूत्र में अनुस्यूत हैं और कभी-कभी सूत्र को भी प्रकाशित होने का अवसर देते हैं।[1] उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए स्थायीभाव में अपनी छाया छोड़ते रहते हैं।

यद्यपि अभिनव ने भरत के रस-सूत्र को स्वीकार किया है किन्तु अपनी रस-विषयक विशेष मान्यता के कारण निष्पत्ति का अर्थ बदल दिया है। भरत-मुनि रस की निष्पत्ति मानते हैं और फिर उसका आस्वाद। वे रस को आस्वाद्यत्व से युक्त पदार्थ मानते हैं। किन्तु अभिनव रस को आस्वाद रूप ही मानते हैं। इसलिये यदि रस की निष्पत्ति को स्वीकार किया जाये तो निष्पत्ति के उपरान्त उसके आस्वाद का प्रसंग उठेगा। इसलिये अभिनव के अनुसार निष्पत्ति रस की नहीं वरन् रसना की होती है। रसना ही रस का प्राण है, इसलिये उसकी निष्पत्ति के लिये रस-निष्पत्ति प्रयोग दूषित नहीं है।[2]

रस का स्वरूप

जहाँ तक अभिनव द्वारा प्रतिपादित रस के स्वरूप का प्रश्न है, उसका विवेचन भट्टनायक के रसास्वाद और भोजकत्व व्यापार के विवेचन के अन्तर्गत किया जा चुका है। फिर भी कुछेक विशेषताएँ ऐसी हैं जिनका स्पष्ट संकेत भट्टनायक में नहीं मिलता। इसलिए उन्हीं का विवेचन यहाँ किया जाएगा।

१. रस-पदार्थ है या चर्वणा

इसके स्वरूप एवं दार्शनिक पक्ष का विवेचन पहले हो चुका है। अभिनव और भट्टनायक में यही मूलभूत अन्तर है। अन्य सभी भेदों का मूल कारण यही है। भट्टनायक ने रस को भावित या सिद्ध माना है,

---

१. **तस्मात्स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना...**

—अभिनव० पृ० २८३

२. **तर्हि सूत्रे निष्पतिरित्तिकथम्। नेयं रसस्य। अपि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत जीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न किञ्चिदत्र दोषः।**

—वही, प०२८५

अभिनव ने उसके सिद्ध स्वभाव का खंडन कर उसे चर्वणा रूप माना है।[1] वस्तुतः यह विशेषता रस की आश्रय-विषयक मान्यता का आधार है। यदि रस सिद्ध स्वभाव है तो सहृदय रस का आश्रय नहीं हो सकता, उसका भोक्ता मात्र होगा। यदि रस चर्वणा रूप है तो सामाजिक ही उसका आश्रय भी होगा और भोक्ता भी।

२. व्यंग्यत्व

अभिनवगुप्त रस को व्यंग्य मानते हैं। क्योंकि न तो वह अभिधा का विषय है और न लक्षणा का ही। अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ का ज्ञान होता है, लक्षणा के द्वारा मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के वश उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ लिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई यह कहे "मेरा मकान गंगा पर है" तो यहाँ मुख्यार्थ में बाधा है क्योंकि गंगा पर तो मकान हो ही नहीं सकता। इसलिए इसका यह अर्थ होगा कि "मेरा मकान गंगा के तट पर है।" यहाँ गंगा का मुख्यार्थ—नदी-विशेष—और लक्ष्यार्थ—गंगातट—परस्पर सम्बद्ध हैं। किन्तु उस व्यक्ति की उक्ति का एक प्रयोजन है। यदि प्रयोजन न हो तो उसकी उक्ति में न केवल चमत्कार का अभाव होगा वरन् व्यर्थ का अर्थ-बाध होने के कारण उसकी निरर्थकता भी सिद्ध होगी। अब सवाल यह पैदा होता है कि इस प्रयोजन—मकान में गंगा के शैत्य पावनत्वादि का ज्ञान किस शक्ति के द्वारा होता है? स्पष्टतः व्यंजना के द्वारा ही।

इसी प्रकार किसी काव्य के दर्शन या मनन से जो अनुभूति होती है, वह अभिनव के मतानुसार न तो अभिधा का विषय है और न लक्षणा का ही। वस्तुतः किसी रस की रचना में उसका नाम आ जाना तो स्वपदवाच्यत्व दोष माना जाता है। लक्षणा भी रस की साधिका नहीं मानी जा सकती क्योंकि कई उक्तियाँ लक्ष्यार्थ से रहित होने पर भी रसानुभूति प्रदान करती हैं। एक सामान्य उदाहरण लीजिए। यदि किसी को यह सूचना दी जाय कि "तुम्हारे यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है" तो वह प्रसन्न हो जाता है। हर्ष का यह भाव कौन-सी शब्द-शक्ति का विषय है? स्पष्टतः वह अभिधा का विषय नहीं है। वह तो केवल एक सत्य का ज्ञान मात्र कराकर के निवृत्त हो जाती है। वह हर्ष लक्षणा का विषय नहीं क्योंकि उक्त कथन में लक्षणा है ही नहीं—उसकी एक भी विशेषता नहीं पाई जाती। केवल एक व्यंजना शक्ति ही रह जाती है। इसलिए वह व्यंग्य ही हो सकता है।

---

१. ....नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तत्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।

—अभिनव०, पृ० २८४

अभिनवगुप्त रस को अलौकिक मानते हैं। और इसलिए रस को न कार्य मानते हैं, न ज्ञाप्य या व्यंग्य। ऊपर रस के व्यंग्यत्व की चर्चा की गई है। इस अन्तर्विरोध का समाहार कैसे हो? विश्वनाथ की दृष्टि इस ओर गई और उन्होंने इसका जो उत्तर दिया है वह आश्वस्त नहीं करता। उनका तर्क यह है कि अभिधा और लक्षणा को मानने वाले नैयायिकों के मत का खंडन करने के लिए काव्यशास्त्री रस का व्यंग्यत्व सिद्ध करते हैं।[१] "क्योंकि हम नैयायिकों के विरोध में व्यंजना को मानते हैं, इसलिए अपनी इस मान्यता को और अधिक ग्राह्य बनाने के लिए रस की व्यंग्यता भी मानते हैं।" यह तर्क वस्तुतः तर्क है ही नहीं। यदि आप व्यञ्जना को स्वीकार करना ही चाहते हैं तो किस कविराज ने बताया है कि रस का व्यंग्यत्व भी अवश्य मानिए? रस के व्यंग्यत्व को माने बिना भी तो आप व्यञ्जना की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। अतएव या तो रस को व्यंग्य मानिये या उसे अलौकिक मानिए। दोनों बातें एक साथ मानना तर्क-संगत नहीं है। रस के अलौकिकत्व के विवेचन में भी काव्यशास्त्रियों के इस पूर्वाग्रह की शिथिलता दिखाई देती है।

वस्तुतः 'रस व्यंग्य है' तथा 'गंगा पर मकान है' उक्ति में 'मकान का शैतत्व, पावनत्वादि व्यंग्य है'—दोनों उक्तियाँ एक ही जाति की नहीं हैं। प्रथम उक्ति का सम्बन्ध भाव या अनुभूति से है, और द्वितीय का अर्थ-बोध या ज्ञान मात्र से। अतएव एक स्थान पर तो हम यह कहते हैं कि व्यञ्जना के द्वारा अर्थबोध होता है, दूसरी ओर उसी व्यञ्जना को भावबोध का भी साधन मानते हैं। व्यञ्जना की शास्त्रीय परिभाषाओं में उसके अर्थबोध रूप फल की ओर ही संकेत किया गया है, न कि भावबोध की ओर।[२] मम्मट ने तो लक्षणा के फल—उक्त उदाहरण में शैतत्व पावनत्वादि के बोध के लिए व्यञ्जना को

---

१. अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभि रसादीनां व्यङ्ग्यत्वं भवतीति। —विश्वनाथ : सा० दर्प०, पृ० ५१

२. यस्यप्रतीतिमाधातुं लक्षणासमुपास्यते ।।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापराक्रिया।
—मम्मट : काव्य-प्रकाश, २।१४

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।
ययाऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य
प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जन—
—विश्वनाथ : सा०दर्प०, २।१२, पृ० ३९,४०

स्वीकार किया और विश्वनाथ ने 'अर्थादि' की व्याख्या करते हुए प्रत्यय, उपसर्गादि का निर्देश किया है। जब रस और ध्वनि के सिद्धान्तों का समन्वय हुआ तब रस-ध्वनि भी एक भेद मान लिया गया। प्रश्न यह है कि क्या एक ही व्यञ्जना शक्ति के द्वारा एक स्थान पर अर्थबोध और दूसरे स्थान पर या वहीं रसबोध माना जा सकता है? वस्तुतः ऐसी मान्यता असंगत ही है। अर्थबोध और भावबोध—दोनों एक ही जाति के बोध नहीं हैं वरन् दोनों में पर्याप्त भेद है। एक ही व्यञ्जना शक्ति को दोनों प्रकार के बोध का साधन मानने से व्यञ्जना शक्ति में द्वयर्थता आ गई है जो कि शास्त्रीय दृष्टि से एक बहुत बड़ा दोष है। भावबोध हमेशा अर्थबोध के बाद ही हुआ करता है। एक ही व्यंजना-शक्ति से यह दो कार्य सिद्ध नहीं हो सकते। एक शब्द-शक्ति से एक ही कार्य हो सकता है। "विशेष्यंनाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे" (काव्य-प्रकाश, पृ० १५) से सिद्ध है। यदि एक ही शक्ति से दो कार्य होने लगें तो फिर तीन शब्द-शक्तियों को मानने की क्या आवश्यकता है। जहाँ एक से दो कार्य सिद्ध होंगे वहाँ तीन, चार या अधिक भी हो सकते हैं। वस्तुतः ऐसी मान्यता भ्रान्त ही है। इस भ्रान्ति से बचने के लिए ही भट्टनायक ने संभवतः भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों की कल्पना की होगी।

एक उदाहरण से उपर्युक्त विवेचन और भी स्पष्ट होगा। गोस्वामी जी के एक प्रसिद्ध पद की दो पंक्तियाँ लीजिए :

> **"तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।**
> **हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज हारी॥"**

वाच्यार्थ सीधा है : "हे राम तुम दयालु हो और मैं दीन हूँ, तुम दानी हो और मैं भिखारी हूँ, तुम पापों के विनाशक हो और मैं प्रसिद्ध पापी हूँ।"

व्यंग्यार्थ है : "मैं दीन हूँ और राम दयालु हैं। दयालु को दीन पर दया आती है। इसलिए राम मुझ पर दया करेंगे। मैं भिखारी हूँ और राम दानी हैं। इसलिए राम अपनी भक्ति का दान मुझ भिखारी को देंगे ही। मैं प्रसिद्ध पापी हूँ और भगवान पापों की राशि को नष्ट करने वाले हैं। इसलिए उनकी कृपा से मेरे सारे पाप कट जाएँगे।" शास्त्रीय दृष्टि से यह वस्तु-ध्वनि है और अर्थबोध कराती है।

अब रस-ध्वनि की मान्यता के आधार पर यह भी मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त पद में जो रसानुभूति होती है वह उसके अन्तर्गत आएगी; अर्थात् एक ही व्यंजना शक्ति से अर्थबोध भी होगा और भावबोध भी। न तो यह स्थिति शास्त्रीय दृष्टि से मान्य है और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से। क्योंकि इस पर सब

से बड़ा आक्षेप यह है कि एक ओर तो काव्यशास्त्र में यह दुहाई दी जाती है कि एक शब्द-शक्ति से एक ही कार्य सम्पन्न होता है, और यहाँ एक ही शक्ति—व्यंजना से; दो कार्य—अर्थबोध और भावबोध सिद्ध होते हैं। रस के अलौकिकत्व को मानने वाले विश्वनाथ रस की व्यंग्यता को एक विलक्षण उपयोगितावादी दृष्टि से देखते हैं जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपर्युक्त मान्यता में यह असंगति है कि अर्थबोध और भावबोध एक ही जाति के ज्ञान नहीं हैं। पहले अर्थबोध होता है फिर भावबोध। भावबोध तो अर्थबोध का फल है। इस प्रकार यह मानना संगत होगा कि व्यंजना-शक्ति से अर्थबोध होता है और अर्थबोध से उपयुक्त दशा में भावबोध होता है। व्यंजना से सीधा भावबोध हो जाता है, यह मान्यता असंगत है। मूलतः शब्द-शक्ति का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध से है, न कि शब्द और भाव से या अर्थ और भाव से। शब्द-शक्तियों को अपनी सीमा में—शब्द और अर्थ की सीमा में ही रखना उचित है। भावक्षेत्र में उनका विस्तार करने से निश्चित रूप से असंगति उत्पन्न होगी।

वस्तुतः ध्वनि और रस के समन्वय का उपर्युक्त सिद्धान्त असंगत ही है। यदि आप शब्द-शक्तियों की मूल शास्त्रीय परिभाषा को मानते हैं तब तो रस उनके अन्तर्गत आता नहीं, और अगर आप रस को भी ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत लाना चाहते हैं तो आपको शब्द-शक्ति का मूल ढाँचा ही बदलना पड़ेगा और उन्हें शब्दार्थ की सीमा से बाहर निकाल कर शब्द, अर्थ और भाव—तीनों को उसमें स्वीकार करना होगा।

व्यञ्जना को रसानुभूति की साधिका के रूप में स्वीकार करने से एक अन्य उलझन भी उत्पन्न हो जाती है। इस व्यापार के अतिरिक्त हमने साधारणीकरण व्यापार को भी स्वीकार किया है और विभावनादि—विभावन, अनुभावन और संचारण व्यापारों को भी स्वीकार किया है। पीछे साधारणीकरण के विवेचन में यह स्पष्ट किया गया था कि साधारणीकरण और विभावनादि व्यापारों का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा उलझा हुआ है। अब यदि व्यंजना को मान लिया जाए तो स्थिति और भी उलझ जाती है। उपर्युक्त आक्षेपों के बावजूद भी यदि व्यञ्जना को रसानुभूति का साधन मान लिया जाए तब तो साधारणीकरण और विभावनादि को भी उसी का फल मानना पड़ेगा। स्पष्टतः व्यञ्जना का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं हो सकता। व्यञ्जना तथा साधारणीकरण और विभावनादि का अन्तर स्पष्ट है। प्रथम का सम्बन्ध केवल अर्थबोध से है तथा द्वितीय दोनों व्यापारों का सम्बन्ध भावबोध से है। इनके बीच की विभा-

जक रेखा को मिटाया नहीं जा सकता। और यदि कोई मिटाना ही चाहे तो उसे शब्द-शक्ति-विवेचन एवं रस-विवेचन में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा।

वस्तुतः यह प्रश्न ही कि रस वाच्य है या व्यंग्य, गलत है। वाच्य या व्यंग्य तो अर्थ ही होते हैं, भाव नहीं क्योंकि अभिधा या व्यंजना का सम्बन्ध अर्थज्ञान के साथ है और वह अर्थज्ञान ही अनुभूति का कारण है। कहीं-कहीं व्यंग्यार्थ रसानुभूति का कारण बन जाता है—जैसे उपर्युक्त उदाहरण में—तो वहाँ पर रस को व्यंग्य मान लिया जाता है। इसी प्रकार जहाँ वाच्यार्थ रसानुभूति का कारण है वहाँ रस को वाच्य, और जहाँ लक्ष्यार्थ रसानुभूति का कारण है वहाँ रस को लक्ष्य मानना चाहिए। स्पष्टतः यह स्थापना किसी को भी स्वीकार नहीं होगी। यदि काव्य-प्रकाशकार मम्मट यह कह सकते हैं कि 'प्रयोजन सहित लक्ष्यार्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता'—'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते'—तो मैं उसी तर्क का सहारा लेकर यह कह सकता हूँ कि भावसहित व्यंग्यार्थ को नहीं माना जा सकता—'भावेन सहितं व्यंग्यं न युज्यते।' यहाँ कोई यह आक्षेप कर सकता है कि कुछ स्थलों पर व्यंजना-शक्ति नहीं होती, केवल लक्षणा या अभिधा होती है तो वहाँ रसबोध किसके द्वारा होता है? और वहाँ पर भावबोध के लिए वे व्यञ्जना को स्वीकार करना उचित समझेंगे। किन्तु यह भी भ्रान्ति ही होगी। मूल तर्क तो यही है कि शब्द-शक्तियों की गति शब्दार्थ तक ही है, रसानुभूति तक नहीं। दूसरी बात यह कि रस के व्यंग्यत्व का सिद्धान्त सभी स्थलों पर संगत होना चाहिए, एक दो पर नहीं। यदि अभिधा एवं लक्षणा से युक्त काव्य में रस को व्यंग्य मान भी लिया जाए तो व्यंजना-युक्त काव्य में रस का व्यंग्यत्व नहीं होगा क्या? तो फिर सवाल हो सकता है कि रसानुभूति का कारण क्या है? उसका कारण है वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ। पहले हमें किसी विषय का ज्ञान होता है—चाहे वह अभिधा द्वारा हो, चाहे लक्षणा द्वारा और चाहे व्यञ्जना द्वारा; और उसके बाद ही भावानुभूति होती है। क्योंकि ज्ञान का विषय और उसके फल दोनों में अन्तर है।[1] यदि लक्ष्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिए यह तर्क दिया जा सकता है तो व्यंग्यार्थ से रसानुभूति की भिन्नता प्रमाणित करने के लिए भी यह तर्क उतना ही सशक्त है।

---

१. ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम ।
प्रत्याक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं च प्रकटता संवितिर्वा ।

—मम्मट : काव्य-प्रकाश—२।१८, पृ० ८३

'रस वाच्य है या व्यंग्य ?' यह प्रश्न ही भ्रमाश्रित है क्योंकि वाच्य या व्यंग्य अर्थ हुआ करता है, भाव या अनुभूति नहीं। यदि आप रस को व्यंग्य ही मानना चाहते हैं तो इसके लिए व्यञ्जना—जोकि एक शब्द-शक्ति है और जिसकी सीमा शब्दार्थ तक है—पर्याप्त नहीं है। इसीलिए तो साधारणीकरण, भावकत्व या विभावन तथा भोजकत्वादि व्यापारों की कल्पना करनी पड़ी। प्रश्न हो सकता है कि फिर प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि और रस-सिद्धान्त के समन्वय की बात क्यों की ? इसका कारण है 'व्यञ्जना' या 'व्यक्ति' शब्द की द्वयर्थता। काव्यशास्त्र में दोनों शब्द समानार्थक हैं तथा इनका प्रयोग दो प्रसंगों में होता है—(१) शब्द-शक्ति के प्रसंग में, (२) रस के प्रसंग में। शब्द-शक्ति-विचार में हम व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ के बोध की बात कहते हैं, और रस के प्रसंग में उसे उत्पन्न या सिद्ध न मानकर उसे व्यक्त या व्यञ्जित मानते हैं। इन शाब्दिक प्रयोगों के साम्य के कारण ही व्यञ्जना शक्ति द्वारा सम्पन्न अर्थ—व्यक्ति तथा रस-व्यक्ति में 'व्यक्ति' की समानता को देखकर ही दोनों के समन्वय की प्रतिष्ठा की गई है। किन्तु अर्थ और रस में जो मूलभूत अन्तर है, उसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता और वह उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए था। वस्तुतः 'अर्थ-व्यक्ति' और 'रस-व्यक्ति' की प्रक्रिया एक ही नहीं है। 'अर्थ-व्यक्ति' शब्द की एक शक्ति का फल है जबकि रस-व्यक्ति से अभिप्राय है भावों का रस रूप में व्यक्त हो जाना। यह सत्य है कि काव्य के प्रभाव से सहृदयों में रसाभिव्यक्ति होती है मगर उसका प्रत्यक्ष कारण व्यञ्जना नहीं, साधारणीकरण और विभावनादि व्यापार हैं। व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियाँ परोक्ष रूप से सहायक हैं क्योंकि वे अर्थज्ञान कराती हैं जिसके बिना रसाभिव्यक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस व्यंग्य—व्यंजना शक्ति का विषय नहीं है। वस्तुतः रस वाच्य है या व्यंग्य, यह प्रश्न ही गलत है क्योंकि वाच्यत्व या व्यंग्यत्व अर्थ का होता है, रस या अनुभूति का नहीं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि अभिव्यक्तिवाद दोषग्रस्त है क्योंकि उसकी मान्यता तो यह है कि विभावादि के प्रभाव से रति आदि भाव सामाजिक के हृदय में व्यक्त होकर रसरूप धारण कर लेते हैं। रस-व्यक्ति या रसाभिव्यक्ति का अर्थ है—स्थायी भावों की रसों में परिणति।

३. अखण्डता

रस-निष्पत्ति के प्रसंग में रस के विविध अवयवों—विभावादिकों का उल्लेख किया गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि

रसानुभूति भी सावयव या सखण्ड होगी। किन्तु अभिनव रसानुभूति को अखण्ड मानते हैं। इसका कारण यह है कि जब तक सामाजिक को विभावादि की पृथकता का ज्ञान होगा तब तक उसे रसानुभूति हो ही नहीं सकती। रस को वेद्यान्तरसंपर्कशून्य कहा गया है—उस अनुभूति के समय किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होगा। किन्तु विभावादि अपने अलौकिक विभावनादि व्यापारों की शक्ति से सामाजिक की बुद्धि में एकाग्रता या अखंडता को प्राप्त होते हैं।[1] यह ठीक है कि आरंभ में तो सामाजिक को विभावादि में से प्रत्येक पृथक्-पृथक् लक्षित होता है, तथा जब रसानुभूति का विश्लेषण किया जाता है उस समय भी उसके कारण रूप विभावादि की चर्चा की जाती है। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि शकुन्तला दुष्यंत के रतिभाव का आलम्बन है, वाटिकादि उद्दीपन हैं, लज्जादि संचारी हैं और कटाक्षादि अनुभाव हैं। जैसे प्रपानकरस में खांड, मिर्च, जीरा, हींग, काला नमक, पोदीना, नीबू, इमली आदि विभिन्न पदार्थ मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार रसानुभूति की अवस्था में उसके सभी अवयव लीन रहते हैं।[2] प्रपानक रस का स्वाद खांडादि सभी उपकरणों के स्वाद को अपने में लिए रहता है, मगर उसका स्वाद उन सब के स्वाद से भिन्न रहता है। उसी प्रकार विभावादि के संयोग से निष्पन्न रस में उनके पृथक् ज्ञान की सत्ता का नाश हो जाता है।

शास्त्र की विश्लेषणात्मिका प्रवृत्ति के अनुरूप ही विभावादि का पृथक् विवेचन किया जाता है। वस्तुतः वे सब परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। इसीलिए यदि किसी काव्य-रचना में विभावादि में से किसी एक का भी कलात्मक वर्णन हो तो सामाजिक की चेतना अन्य अवयवों का आक्षेप कर लेती है।[3] सामाजिक की कल्पना ही छूटे हुए तत्वों का समाहार कर लेती है। इससे भी इनके घनिष्ठ सम्बन्ध की सिद्धि होती है।

यह प्रश्न हो सकता है कि रस के अन्य गुण—सत्वोद्रेक, स्वप्रकाश, आनन्द आदि भी माने गए हैं तो फिर रस को अखंड कैसे कहा जा सकता है ? ये गुण

---

१. **विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः·······सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वा ऽऽसादितवद्भिः।** —**अभिनव०**, पृ० २८४

२. **प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।**
ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्॥
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्॥
—विश्वनाथ : सा० दर्प०, ३।१५,१६

३. **सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।**
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥ —**वही, ३।१७**

ही उनको खंडित करने के लिए पर्याप्त हैं। वस्तुतः सत्वोद्रेकादि विविध गुणों के होने पर भी रसानुभूति अखंड ही रहती है। इसका दार्शनिक आधार है जिसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

दार्शनिक पक्ष

वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म एक अखंड सत्ता है जो संसार के रूप में व्यक्त होती है। यह संसार खण्ड-खण्ड है मगर संसार का यह विभेद ब्रह्म में नहीं पाया जाता वरन् वह सदैव अखण्ड भाव से विद्यमान रहता[1] है। जिस[2] प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम-रूप को त्याग कर समुद्र ही कहलाती हैं उसी प्रकार यह सृष्टि भी पुरुष में लीन होकर उसकी अखण्डता को बाधित नहीं करती। उसी प्रकार यद्यपि काव्यशास्त्र में रस के अवयवों—विभावादिकों की चर्चा की जाती है फिर भी वह वेदान्त के ब्रह्म के समान अखंड ही है।[3] विश्वनाथ की इस उक्ति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किस प्रकार अभिनव के रस-विवेचन को वेदान्ती आधार पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही थी। रसगंगाधर में तो यह प्रयास बहुत ही स्पष्ट है।

४. लोकोत्तर चमत्कार

अभिनव गुप्त ने बड़े निर्भ्रान्ति शब्दों में रस के अलौकिकत्व की प्रतिष्ठा की है। रस के अलौकिकत्व की सिद्धि के लिए अभावात्मक तर्क पद्धति का सहारा लेते हुए उसे सभी प्रकार की अनुभूतियों से भिन्न प्रमाणित किया गया है। अभिनव के मतानुसार न वह लौकिक है, न मिथ्या है, न अनिर्वचनीय है, न लौकिक के समान है, न लौकिक के आरोप रूप है वरन् वह हो लोकोत्तर ही है।[4] रस के अलौकिकत्व के साथ ही रस की एक अन्य

---

१. अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ —गीता, १३।१६

२. स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्येते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः। —प्रश्नोपनिषद्, ६।५

३. परमार्थस्त्वाखंड एवायं वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व वद्वेदितव्यः
—विश्वनाथ : सा० दर्प०, पृ० ६४

४. सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरवे भाति। तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वचनीया न लौकिक तुल्या न तदारोपितरूपा।

× × × ×

तेन विभावदिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य। —अभिनव०, पृ० २८०, २८५

विशेषता का उल्लेख भी किया गया है, और वह है चमत्कार।[1] दोनों का उल्लेख एक साथ होने के कारण ही चमत्कार का वर्णन भी यहीं किया जाएगा।

अभिनव ने रस के अलौकिकत्व की सिद्धि के लिए जितने भी तर्क प्रस्तुत किए हैं उन सब को विश्वनाथ ने एक सुनिश्चित क्रम से रखा है। अतएव उसी आधार पर प्रस्तुत विवेचन किया जाएगा।

रस के अलौकिकत्व पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि लौकिक किसे कहते हैं? वह वस्तु या अनुभव लौकिक है जिसे हम सामान्य साधनों के द्वारा जान सकें, जिसका हम वर्णन कर सकें। मगर रस न तो सामान्य साधनों द्वारा जाना जा सकता है और न उसके स्वरूप का वर्णन ही किया जा सकता है। अतः रस लोक-भिन्न एक अलौकिक अनुभूति है।

रस ज्ञाप्य नहीं है—सभी लौकिक वस्तुएँ ज्ञाप्य होती हैं—ज्ञान का विषय होती हैं। मगर जो ज्ञाप्य है, उसकी यह विशेषता भी है कि वह कभी-कभी विद्यमान होने पर भी लक्षित नहीं होती—जैसे कपड़े से ढकी हुई पुस्तक। मगर रस कभी भी इस प्रकार अज्ञात नहीं रह सकता। यदि वह है, तो उसे किसी भी प्रकार ढका नहीं जा सकता। यह नहीं हो सकता कि कोई सामाजिक रस की अनुभूति तो करता हो मगर उसे रस की सत्ता की जानकारी न हो। क्योंकि रस तो संवेदन रूप ही है, इसलिए रस ज्ञाप्य नहीं है। अतः सिद्ध है कि वह लौकिक पदार्थों से भिन्न है।

वस्तुतः यह तर्क संगत नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार इस तर्क के आधार पर रस का अलौकिकत्व सिद्ध किया जा सकता है, उसी प्रकार भाव का भी। क्योंकि भाव भी जब होता है तो ज्ञात रूप ही होता है। रस के समान वह भी अज्ञात नहीं रह सकता। यह आक्षेप आज तक किसी ने नहीं किया।

रस कार्य नहीं है—लौकिक पदार्थों का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है, इसलिए वे सब कार्य माने जाते हैं। कारण-कार्य संबंध की विशेषता यह है

---

१. **तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमान-**
लौकिकसंवेदनविलक्षणा एव।

—अभिनव०, पृ० २८४

२. **नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ॥**
योहि ज्ञाप्यो घटादिः स सन्नपि कदाचिदज्ञातो
भवति न ह्यं तथा, प्रतीतिमन्तरेणाभावात्।

—विश्वनाथ : **सा० दर्प०**. ३।२०, पृ० ५८

कि व्यक्ति को एक समय में एक का ही ज्ञान हो सकता है, दोनों का नहीं।[1] कारण का ज्ञान पहले और कार्य का बाद में होता है। उदाहरण के लिये चन्दन के लेप से शीतल एवं आनन्द की अनुभूति होती है। एक ही क्षण में दोनों का ज्ञान नहीं होता। पहले चन्दन के लेप का ज्ञान होता है, फिर तज्जन्य सुख का।

यदि कोई रस को कार्य माने तो विभावादि का ज्ञान उसका कारण हुआ। और रस की अनुभूति के समय विभावादि के ज्ञान की सत्ता नहीं होनी चाहिये। मगर रसानुभूति में लीन सामाजिक को भी विभावादि का ज्ञान रहता है। इसलिए रस कार्य भी नहीं हो सकता। वस्तुतः रस की अनुभूति में विभावादि भी आत्मसात् रहते हैं। विभावादि का ज्ञान रस का कारण नहीं है वरन् रसानुभूति विभावादि-समूहालम्बनात्मक है।

मेरे विचार में उपर्युक्त तर्क भी भ्रान्त ही है। क्योंकि इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है—"कारण और कार्य का ज्ञान एक साथ नहीं होता—पहले कारण का ज्ञान होता है फिर कार्य का।" इसके अनुसार ही रसानुभूति में सामाजिक को पहले विभावादि (कारण) का ज्ञान होता है, फिर रस—कार्य का। इस आधार वाक्य की यह व्याख्या नहीं की जा सकती कि कार्य के ज्ञान में कारण के ज्ञान का तिरोभाव हो जाता है। विश्वनाथ द्वारा दिया गया चन्दन वाला उदाहरण ही लिया जा सकता है। यह तो सत्य है कि पहले चन्दन-स्पर्श का ज्ञान होता है, फिर शैतत्वादि का। मगर यह नहीं कह सकते कि शैतत्वादि के ज्ञान के समय व्यक्ति को चन्दन का ज्ञान नहीं रहता। आरंभ में केवल कारण का ज्ञान रहता है, बाद में कारण और कार्य दोनों का ज्ञान रह सकता है और रहता है। इसलिए यह कहना कि यदि रस कार्य होता तो उसकी अनुभूति करते समय उसके कारण—विभावादि का ज्ञान नहीं होना चाहिये। "ततश्च रस-प्रतीतिकाले विभावदयो न प्रतीयेरन्" गलत है।

उपर्युक्त तर्क के विवेचन में विश्वनाथ ने एक अन्य आक्षेप किया है और उसका समाधान भी किया है। वह यह कि यदि रस कार्य नहीं है तो भरतमुनि ने

---

१. **यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः। तस्मान्न कार्यः।**

यदि रस कार्यं स्यात्तदा विभावादिज्ञान कारण एव स्यात्। ततश्च रस प्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्। कारणज्ञानतत्कार्यज्ञानादीनां युगपद दर्शनात्। नहि चन्दनस्पर्श ज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानंचैकदा संभवति। रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभादिज्ञानकारणकत्वमित्यभिप्रायः। —विश्वनाथ : **सा० दर्प**, ३।२०-२१, पृ० ५८,५९

रस-सूत्र में 'निष्पत्ति' शब्द का प्रयोग क्यों किया। क्योंकि यदि रस की निष्पत्ति मानी जाएगी तो फिर उसके निष्पादक कारणों के रूप में विभावादि को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसके उत्तर में विश्वनाथ ने यह कहा है कि रस-सूत्र में निष्पत्ति का प्रयोग लाक्षणिक ही है। निष्पत्ति चर्वणा की होती है, रस की नहीं।[1] इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि अभिनव के मतानुसार चर्वणा ही रस है। इसलिये यदि यह मानें कि चर्वणा को निष्पत्ति होती है तब तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि रस की निष्पत्ति होती है। इस पर विश्वनाथ का उत्तर यह है कि चर्वणा भी कार्य नहीं है, फिर भी कभी कभी उपचार वश उसमें कार्यत्व का आरोप कर लिया जाता है। कार्य कभी होता है, कभी नहीं। इसी प्रकार चर्वणा कभी होती है और कभी नहीं। इस समानता के आधार पर ही चर्वणा को कार्य कह दिया जाता है।[2] स्पष्टतः यहाँ भरत के मत को हठपूर्वक अपने मत के अनुकूल सिद्ध करने की चेष्टा की जा रही है।

रस नित्य नहीं है—संसार की जो नित्य वस्तुएँ हैं वे विद्यमान रहती हैं—चाहे हम उन्हें देखें और चाहे न देखें। उदाहरण के लिये अगर किसी व्यक्ति ने ताजमहल नहीं देखा तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह है ही नहीं। किन्तु रस की स्थिति इससे भिन्न है। वह तो केवल संवेदन काल में ही रहता है, न उससे पहले और न उसके बाद ही। इसलिए वह नित्य नहीं है। अतः वह लौकिक भी नहीं है।[3]

वस्तुतः यह तर्क भी निस्सार है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि यदि संवेदन काल में ही स्थित रहने के कारण रस नित्य नहीं है, तो उसी प्रकार संवेदन काल में विद्यमान होने के कारण भाव भी नित्य नहीं है। तो क्या भाव भी अलौकिक है ?

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि क्या जो वस्तु नित्य नहीं है वह अलौकिक मानी जानी चाहिये ? नित्य का विपरीत अलौकिक नहीं, अनित्य है।

---

१. **निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्ति रूपचारतः।**

—विश्वनाथ : सा० दर्प०, ३।२७, पृ० ६०,६१

२. **यद्यपि रसाभिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वं,**
तथापि तस्य कादाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते।

—वही, पृ० ६२

३. **असंवेदन काले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते।**
न खलु नित्य वस्तुनोऽसंवेदन कालेऽसंभवः। —वही, ३।२१–पृ० ५९

इसलिये रस यदि नित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह अलौकिक है वरन् इसका यह अर्थ है कि वह अनित्य है—कभी होता है, कभी नहीं ।

रस न भविष्यत् है, न वर्तमान—कुछ लौकिक वस्तुएँ या व्यापार भविष्यत् होते हैं जैसे मानव का चन्द्रमा में पहुंचना । यह अभी सत्य नहीं है, मगर भविष्य में सत्य हो सकता है । रस संवेदन काल में स्थित रहता है इसलिए वह भविष्यत् भी नहीं है । इसी प्रकार रस वर्त्तमान भी नहीं है क्योंकि वर्त्तमान वस्तुएँ या तो कार्य होती हैं या ज्ञाप्य ।[1]

उपर्युक्त तर्क तो सर्वथा दुर्बल है । जो व्यक्ति काव्य का श्रवण या दर्शन करने जा रहा है उसके लिए तो रस भविष्यत् है, और जो उसकी अनुभूति कर रहा है उसके लिए वह वर्त्तमान है । और फिर यदि उपर्युक्त तर्क के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि रस न भविष्यत् है न वर्त्तमान तो उसी आधार पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि भाव भी न भविष्यत् है और न वर्त्तमान । रस के वर्त्तमान न होने के जो तर्क दिए गए हैं, उनका खंडन तो पहले ही हो चुका है ।

तीसरी बात यह कि यदि रस न भविष्यत् है और न वर्त्तमान तो वह अतीत हो सकता है । तथा जो व्यक्ति रसास्वाद कर चुका है उसके लिए वह अतीत भी है ।

रस न प्रत्यक्ष है, न परोक्ष—लौकिक वस्तुएँ या तो प्रत्यक्ष होती हैं या परोक्ष । विश्वनाथ ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि रस इन दोनों में से एक भी नहीं है । उनके इस विवेचन को समझने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान के दार्शनिक पक्ष को समझना आवश्यक है ।

दार्शनिक पक्ष : प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) सविकल्पक, और (२) निर्विकल्पक ।[2]

१. **सविकल्पक ज्ञान**—घट-पटादि का ज्ञान सविकल्पक कहलाता है । इसका लक्षण यह है कि इस ज्ञान में विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध का भान होता है । विशेषण-विशेष्य के सम्बन्ध को दर्शन में वैशिष्ट्य या संसर्ग कहा जाता है ।

---

१. **नापि भविष्यन्साक्षादानन्दमयप्रकाशरूपत्वात् ।**
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि ।।

—विश्वनाथ : **सा० दर्प०**, ३।२२, पृ० ५६

२. **तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं, सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात् ।**

—धर्मराज दीक्षित : **वेदान्तपरिभाषा**, पृ० १८

रस सविकल्पक-संवेद्य नहीं है—सविकल्पक ज्ञान में संसर्ग की सत्ता होती है इसलिए उसकी व्याख्या की जा सकती है। किन्तु रस का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि वह तो केवल अनुभूति का ही विषय है।[1] अनुभूति का विषय होने के कारण, स्वप्रकाश होने के कारण, रस परोक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता। इस प्रकार रस सविकल्पक, निर्विकल्पक एवं परोक्ष ज्ञान से भिन्न अलौकिक ही है और उसकी सत्ता का एक मात्र प्रमाण है—चर्वणा।

रस परोक्ष नहीं है, यह भी सही है और वह निर्विकल्पक-ज्ञान-ग्राह्य नहीं है, यह भी मान्य है। किन्तु यह मान्यता भ्रान्त है कि वह सविकल्पक ज्ञान नहीं है। क्योंकि विभावादि के परामर्श को विश्वनाथ ने स्वयं ही स्वीकार किया है, अनुभाव आदि भी रस के प्रकाशक हैं, इसलिये उसे सविकल्पक ज्ञान का विषय ही मानना चाहिए। यदि इन तर्कों के आधार पर रस को अलौकिक सिद्ध किया जा सकता है तो भाव को भी अलौकिक सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि वह अनिवर्चनीय भी है और अनुभूति-रूप भी।

यह मान्यता भी भ्रान्त है कि रस न प्रत्यक्ष है न परोक्ष। जो उसकी अनुभूति करता है उसके लिए तो रस प्रत्यक्ष है और जो अनुभूति नहीं कर रहा है उसके लिए परोक्ष। अतः स्पष्ट है कि रस के अलौकिकत्व की सिद्धि के लिए जो उपर्युक्त तर्क दिए गए हैं, वे सभी दूषित हैं। रस की लोकोत्तरता की सिद्धि में अभिनवादि काव्यशास्त्रियों के दार्शनिक पूर्वाग्रह ही कार्यशील प्रतीत होते हैं। सत्त्वोद्रेक के विवेचन में भी यह सिद्ध किया गया था कि रसानुभूति वस्तुतः लौकिक अनुभूति ही है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि वह एक श्रेष्ठ एवं उदात्त लौकिक अनुभूति है।

चमत्कार—रस को चमत्कार-प्राण माना गया है। आज चमत्कार का अर्थ विस्मय समझा जाता है और इसी आधार पर पण्डित नारायण ने एक मात्र अद्भुत रस की सत्ता को ही स्वीकार किया था। इसकी चर्चा धर्मदत्त ने अपने ग्रन्थों में की है जिसका उल्लेख साहित्य-दर्पणकार ने इसी प्रसंग में किया है।[2]

---

१. **तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च ॥**
सविकल्पकसंवेद्यः साक्षात्कारतया न च ।
परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात् ॥
तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम् ।
प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वभिन्ने विदुषां मतम् ॥
—विश्वनाथ : सा० दर्प०, ३।२४,२५,२६

२. **चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः ।**
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादद्भुतमेवाह कृतीव नारायणो रसम् ॥   वही, पृ० ४६

अभिनव ने चमत्कार को चित्तविस्तार रूप नहीं माना है इसलिए उसका अद्भुत रस से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। 'चमत्कार' शब्द वस्तुतः दर्शन का शब्द है।

तंत्रसार में इच्छा-शक्ति को चमत्कार कहा गया है।[1] स्पष्टतः रस के चमत्कार के साथ इस अर्थ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि इच्छा-शक्ति चित्त के विस्तार का कारण है, अतएव चमत्कार से भी चित्त के विस्तार का अर्थ लिया जा सकता है। अभिनवगुप्त ने 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है—एक निर्विघ्न संवित्, और दूसरा रसानुभूति जन्य पुलकादि के लिए।[2] निर्विघ्न संवित् या भोक्ता के अलौकिक भोग से आविष्ट मन की दशा के लिए चमत्कार, निर्वेश, रसना, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों का प्रयोग होता है।[3] वस्तुतः चमत्कार का वही अर्थ ग्रहण करना चाहिए जो अभिनव ने दिया है तथा उसके दार्शनिक आधार की चर्चा रसास्वाद में पहले की जा चुकी है।

रस का आश्रय

अभिनव के मतानुसार रस का आश्रय तो सहृदय ही है। रामादि मूल पात्र भाव के आश्रय हैं तथा नटादि भावादि का प्रदर्शन करते हैं इसलिए वे रस के आश्रय नहीं हो सकते। काव्य या नाटक भी रस का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी अवस्था में उसके भोग की समस्या पैदा होगी जिसका समाधान करने के लिए भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार की कल्पना की थी। अभिनव के अनुसार सामाजिक के स्थायी भाव ही रस-रूप में व्यक्त होते हैं तथा रस की चर्वणा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। अतः रस का यह स्वरूप मान लेने पर सामाजिक ही रस का आश्रय सिद्ध होता है।

रसास्वाद

अभिनव के मतानुसार आस्वाद का प्रकार क्या है, इसकी चर्चा भट्टनायक के रसभोग के साथ की जा चुकी है। यहाँ केवल इतना उल्लेख करना आवश्यक है

---

१. **तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः।** —अभिनव : तंत्रसार, पृ० ६

२. **सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः। तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिविकारश्चमत्कारः।** —अभिनव, पृ० २७९

३. **भुञ्जानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनः करणं चमत्कार इति।** —वही, पृ० २७९

लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्तासंवित्तिरेव चमत्कार निर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। —वही, पृ० २८०

कि अभिनव के मतानुसार सभी व्यक्ति रसास्वाद के अधिकारी नहीं हो सकते। केवल विमल प्रतिभानशाली सहृदय ही रस का अधिकारी हो सकता है।[1] विश्वनाथ ने रसास्वाद के अधिकारी में इस जन्म तथा पूर्वजन्म की वासना का होना आवश्यक बताया है। पूर्व जन्म की वासना का होना इसलिए आवश्यक माना गया है क्योंकि इस जन्म में यदि कुछेक रागी व्यक्तियों को भी जो रसानुभूति नहीं होती उसका कारण है पूर्व जन्म की वासना का अभाव। इस जन्म की वासना जिन वेदाभ्यास-जड़ मुनियों में नहीं है, उन्हें रसानुभूति हो ही नहीं सकती।

रस-विघ्न—अभिनवगुप्त ने रस-विघ्नों का विस्तृत वर्णन किया है जो रसास्वाद को खंडित कर देते हैं। उन्होंने निर्विघ्न संवित् को ही रस माना है इसलिए रसास्वाद के लिए यह सुतरां आवश्यक है कि उन विघ्नों का नाश हो।[2] विभावादि के द्वारा ही इन विघ्नों का नाश होता है। कुल सात विघ्न हैं—

(१) ज्ञान की अयोग्यता, अथवा रस की संभावना का अभाव,
(२) स्वगत तथा परगत रूप से देशकालादि का संबंध,
(३) व्यक्तिगत सुखादि के आधीन हो जाना,
(४) प्रतीति के उचित उपायों का अभाव,
(५) स्पष्ट प्रतीति का अभाव,
(६) अप्रधानता, तथा
(७) संशय योग।

१—ज्ञान की असंभावना—यदि कोई व्यक्ति काव्य में नियोजित किसी रूप या व्यापार को असंभव मान ले, तो न तो उसकी संवित् की विश्रान्ति ही होगी और न रसानुभूति ही। भावबोध के लिये अर्थबोध तथा उसके साथ सहानुभूति का होना आवश्यक है। यदि अर्थबोध ही अग्राह्य है तो भावबोध का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस दोष को दूर करने का एक उपाय तो है विभावादि का लोक-रुचि के अनुकूल होना। व्यक्ति जब अपने नित्य के जीवन की अनुभूतियों

---

१. **अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः।** —अभिनव, पृ० २७९

२. **तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथा हि-लोके सकलविघ्न विनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादन-भोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यता --संभावनाविरहोनाम, स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो, निजसुखादिविवशीभाव, प्रतीत्युपायवैकल्यं, स्फुटत्वाभभावो, अप्रधानता, संशययोगश्च।** —वही, पृ० २८०

एवं परिस्थितियों से मिलती-जुलती अनुभूतियों और परिस्थितियों को काव्य में पाएगा, तो अर्थबोध की असंभावना का दोष स्वयमेव नष्ट हो जाएगा ।

यदि किसी नाटक में समुद्र-लंघन आदि अलौकिक चेष्टाओं का वर्णन है तो वहाँ पर इस दोष के नाश का उपाय है उन व्यापारों में रत हनुमानादि विख्यात पात्रों की असीम शक्ति में निष्ठा । यद्यपि सामाजिक उन कार्यों को नहीं कर सकता लेकिन अलौकिक शक्ति से संपन्न लोकनायक उनको कर सकते हैं । इसीलिये नाटक में लोक-विख्यात नायक को ही ग्राह्य माना गया है ।[1]

२—**स्वगत एवं परगत संबंध विशेष**—अभिनय देखते समय यदि कोई व्यक्ति अपने ही सुख में लीन हो जाता है तो अपने सुख के नाश के भय से, उसकी रक्षा की आकुलता से, तथा इस जैसे अन्य सुखों की प्राप्ति की इच्छा से उसके हृदय में अन्य-अन्य भावों का उदय होता रहेगा और मन की चंचलता के परिणाम स्वरूप वह रसास्वादन करने में असमर्थ होगा । यदि वह व्यक्ति दुःख में लीन है तो उसके परित्याग की इच्छा से, उसे दूसरों से छिपाने की व्यग्रता के कारण, उसे दूसरों से कहने की इच्छा से या किसी अन्य प्रकार से उसकी चेतना क्षुब्ध रहेगी । इससे एकाग्रता का अभाव होगा और रसानुभूति असंभव हो जाएगी ।

यदि व्यक्ति नटादि के सुख-दुःख की अनुभूति करने लगता है तब भी सहानुभूति वश उसकी चेतना उधर ही उलझ जाएगी और सुख, दुःख, मोहादि भावों के उदय के कारण वह अशान्त हो जाएगा । इससे रसानुभूति में निश्चित बाधा पड़ेगी ।

इस विघ्न से बचने के दो ही साधन हैं—एक तो यह कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को भुला दे, दूसरा उसे नट के पृथक् अस्तित्व का ज्ञान न हो । इन दोनों की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि मुकुटादि साधनों (मेक-अप) की सहायता से नट अपने आप को पूर्णरूपेण नायक के साँचे में ढाल ले । इससे आकृष्ट होकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को भी भूल जाएगा और उसे नट की पृथक्

---

१. संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव यो न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः । तदपसारणे हृदयसंवादो लोक सामान्यवस्तु विषयः । अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्यय-प्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेय परिग्रह : । अतएव निस्सामान्योत्कर्षो-पदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तु विषयत्वादिनियमेन निरूप-यिष्यते । न तु प्रहसनादाविव । --अभिनव, पृ० २८०

सत्ता का भी ज्ञान नहीं रहेगा। चतुर्विधाभिनय की निर्दोषता ही इस विघ्न का नाश करने में समर्थ है।[1]

३—**व्यक्तिगत सुखादि**—यदि कोई सामाजिक व्यक्तिगत सुख या दुख से आक्रान्त है तो वह अपने व्यक्तित्व की सीमाओं में ही आबद्ध रहेगा तथा अपने आपको काव्य-रसानुभूति में लीन नहीं कर पाएगा। इस विघ्न के नाश का उपाय यह है कि सुन्दर गणिकाओं आदि के रमणीय नृत्य-गानादि के द्वारा उन व्यक्तियों का मनोरंजन किया जाए ताकि वे अपनी व्यक्तिगत संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर स्वस्थ भाव से एवं निर्मल हृदय से काव्य का रसास्वाद कर सकें।[2]

४—**प्रतीति के उपायों का अभाव**—प्रतीति[3] के उपायों के अभाव में रस-प्रतीति हो ही नहीं सकती। इन्द्रियों की स्वस्थता प्रतीति का साधन है। भाषा-ज्ञान, शास्त्र-ज्ञान भी रस-प्रतीति के साधन हैं। इसके अतिरिक्त अभिनय भी प्रतीति का साधन है। प्रतीति के साधन से अभिनव का यही अभिप्राय है। यदि अभिनय लोक-व्यवहार के अनुकूल हो तो उससे रस-प्रतीति में कोई बाधा नहीं होगी और इस विघ्न का नाश हो जाएगा।[4]

---

१. **स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तर समुद्गम एव परमो विघ्नः।**
परगतत्वनियमभाजामपि सुख-दुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुख-दुःख मोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यंभावी विघ्नः।
तदपाकरणे 'कार्योनाति प्रसङ्गोऽत्र' (ना० श०, पृ० १५८) इत्यादिना ··यो नटरूपताधिगमस्तत्परस्परः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः। —नाट्यशास्त्र, पृ० २८१

२. **निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वंतरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्व सहिष्णुभिः शब्दादि विषयमयोभि (मयै) रातोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्तया सहृदयीक्रियते।**
—वही, पृ० २८१

३. **किञ्चप्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिभावः?** —वही, पृ० २८१

४. **तदुभयविघ्नविघाते, अभिनया लोकधर्मिवृत्ति प्रवृत्त्युपस्कृताःसमभिषिच्यन्ते।** —वही, पृ० २८१

५. **अस्फुटत्व**—यदि शब्द का अर्थ अस्पष्ट है अथवा अनुमानादि के द्वारा जाना जाता है तो उस अर्थ में भी संविद्विश्रान्ति नहीं होती। क्योंकि अनुमानादि द्वारा ज्ञात अर्थ भी प्रमाता के भावबोध में उतने शक्तिशाली नहीं होते जितने कि प्रत्यक्ष अर्थ होते हैं। कारण यह है कि साक्षात्कार से उत्पन्न अर्थ इतना वास्तविक और प्रभावशाली होता है कि व्यक्ति की चेतना उसमें सरलता से लीन हो जाती है। अलात चक्र आदि कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रमात्मक होने पर भी प्रभावशाली होते हैं. किन्तु वे अपवाद स्वरूप ही हैं। इस विघ्न के नाश का साधन यही है कि अभिनय पूर्ण रूपेण लोक रुचि और लोकवृत्ति के अनकूल हो।[1]

६.**अप्रधानता**—यदि कोई सामाजिक रस की अपेक्षा अलंकार या गुणादि को प्रधान मान ले तथा रस को अप्रधान माने तो यह अप्रधानता दोष होगा। स्पष्टतः जिस व्यक्ति की चेतना प्रधान तत्त्व—रस को छोड़कर, अप्रधान तत्व; अलंकारादि में उलझी रहेगी उनकी संविद्विश्रान्ति हो ही नहीं सकती। कारण यह है कि संविद्विश्रान्ति का कारण तो रस है. तथा विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी रस के साधन रूप ही हैं। इसलिए विभावादि को भी प्रधानता नहीं देनी चाहिए[2] - तभी रसानुभूति संभव होगी।

७. **संशय-योग**--क्योंकि विभावादि का पृथक्-पृथक् स्थायीभाव से कोई नियत सम्बन्ध नहीं है इसलिए कभी-कभी संशय हो सकता है कि अमुक विभाव या अनुभाव किस स्थायीभाव को प्रकाशित करता है। उदाहरण के लिए 'आँसू'

---

१. **अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसंभवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति। स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्।**

यथाऽऽहुः 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' (न्यायसू० भा० १-३) इति। स्वसाक्षात्कृते ह्यागमानुमानशतैरप्यन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात्तदुभय विघ्नविघाते ऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते। —नाट्यशास्त्र, पृ० २८१

२. **अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति रतस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जड़े विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखं प्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणा पात्रम्।**

—अभिनव, पृ० २८१

आनन्दातिरेक से, करुण रस से और आँखों के रोग से उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में कैसे निश्चय किया जा सकता है कि 'आँसुओं' का सम्बन्ध किसके साथ है ? और जब तक निश्चय नहीं होगा तब तक रसानुभूति का सवाल ही नहीं पैदा होता। इस संशय-योग विघ्न के नाश का उपाय यह है कि विभावादि को संयुक्त रूप से देखा जाए। ऐसा करने पर निश्चित रूप से कहा जा सकेगा कि विभावादि द्वारा किस भाव की व्यंजना होती है। उदाहरण के लिए जहाँ बन्धुनाश विभाव है; विलाप, रोदन आदि अनुभाव हैं; तथा चिन्ता, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं वहाँ यह निश्चय होता है कि शोक ही स्थायीभाव है। रस-सूत्र में 'संयोग' शब्द बड़े महत्व का है।[1]

अभिनव गुप्त ने जिस प्रकार विघ्नों को रसास्वाद का बाधक माना है, उसी प्रकार अभिनव के मत का विवेचन करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने अज्ञान के आवरण को रसास्वाद का बाधक माना है। जब तक विभावादि के प्रभाव से आवरण भंग रहता है तभी तक रसानुभूति होती है और जब विभावादि निवृत्त हो जाते हैं तो आत्मा फिर आवृत्त हो जाती है और रत्यादि भाव विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नहीं होते।[2] जिस प्रकार शकोरे आदि से ढका हुआ दीपक न तो स्वयं ही प्रकाशित होता है न अन्य वस्तुओं को ही प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अज्ञान से आवृत्त आत्मा न अपने आप को प्रकाशित कर पाती है और न रत्यादि स्थायीभावों को ही। जब दीपक पर से शकोरा हटा दिया जाता है तो वह स्वयं भी प्रकाशित हो जाता है और अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करने लगता है। उसी प्रकार विभावादि के प्रभाव से आवरण का भंग हो जाने पर आत्मा रत्यादि स्थायी भावों को प्रकाशित करने लगती है।[3] रसास्वाद के

---

१. **तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति। बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्। व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्। श्र (श्र) मचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेक सहचरत्वावलोकनात् व्यभिचारिणि। तथाहिबन्धुविनाशों यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातदिस्त्वनुभावः चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एवे(ववे)त्येवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः।** —अभिनव, पृ० २८४

२. **विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद् विद्यमानेऽपिस्थायी न प्रकाशते।**
—पंडितराज जगन्नाथ : **रसगंगाधर**, पृ० ८६

३. **यथाहि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादि संवलितान् रत्यादीन्।**
—वही, पृ० ८३

१. **आगम शास्त्र**—इसको दैवी रचना माना जाता है जो गुरु-शिष्य परम्परा से अक्षुण्ण बने हुए हैं। इसके अन्तर्गत मालिनी विजय, स्वच्छन्द, विज्ञान भैरव, उच्छूष्म भैरव, मृगेन्द्र, मातंग, नेत्र, नैश्वास, स्वयम्भुव और रुद्रयामल तन्त्र हैं। कालान्तर में जब इनकी द्वैतवादी व्याख्या का प्रयास किया गया तब शिव ने वसुगुप्त को शिवसूत्र का ज्ञान प्रदान किया। कहा जाता है कि वसुगुप्त ने शिवसूत्र पर स्पन्दामृत नाम की व्याख्या लिखी थी जो प्राप्त नहीं है।

२. **स्पन्द शास्त्र**—इसमें शिवसूत्रों के दर्शन को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसमें दार्शनिक विवेचन का अभाव है। कल्लट भट्ट (८५०-९००) ने स्पन्द-सूत्र की रचना कर साहित्य की इस धारा का प्रवर्त्तन किया। स्पन्द-सूत्र को स्पन्दकारिका भी कहा जाता है। कल्लट ने स्पन्दकारिका पर स्पन्द सर्वस्व नाम की टीका लिखी। इस परम्परा में प्रद्युम्न भट्ट, प्राज्ञार्जुन, महादेव, श्रीकंठ, भास्कर (११ वीं शती) आदि विद्वान् हुए। इसके अतिरिक्त उत्पल वैष्णव और रामकंठ (९००-९२५) ने स्पन्द-प्रदीपिका और स्पन्द-विवृति की रचना की है।

३. **प्रत्यभिज्ञा शास्त्र**—इसमें काश्मीर दर्शन का सम्बद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें शिवसूत्र की सकारण व्याख्या की गई है। सोमानन्द (८५०-९००) ने साहित्य की इस धारा का प्रवर्त्तन किया। सोमानन्द की 'शिव-दृष्टि' इस दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ माना जाता है। सोमानन्द के शिष्य—उत्पलाचार्य (९००-९५०), लक्ष्मण (९५०-१०००), और अभिनव गुप्त (९९३-१०१५) आदि हुए। क्षेमराज (११ वीं शती), योगराज (१२ वीं शती), जयरथ आदि इस सम्प्रदाय के अन्य विद्वान् एवं रचनाकार हैं।

दर्शन

अद्वैतवाद के समान ही यह दर्शन सारी सृष्टि को एक ही परम तत्व परासंवित् की अभिव्यक्ति मानता है किन्तु अद्वैतवाद से इसका मूल अन्तर इस बात में है कि यह सृष्टि को भी सत्य मानता है। परासंवित् और सृष्टि दोनों अभिन्न और सत्य भी हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि परासंवित् से सृष्टि का विकास कैसे होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते समय परासंवित् से लेकर पञ्चभूतों तक सृष्टि के क्रमिक विकास का विवरण उपस्थित किया जाएगा। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आत्मा—सहृदय की इस सृष्टि में क्या स्थिति है और उसका क्या स्वरूप है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि रसानुभूति की अवस्था का सम्बन्ध किस तत्व के साथ है।

परासंवित्

जैसा कि ऊपर कहा गया है, परम तत्व को काश्मीर शैव-दर्शन में परासंवित् कहा जाता है। इसे परम शिव भी कहा जाता है। सारी सृष्टि अव्यक्त रूप से इसी में व्याप्त रहती है। इसे सच्चिदानन्द कहा जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सत् को आनन्द का ज्ञान है या उसमें स्वसंवेदन की स्थिति है। वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि वह सत्, चित् और आनन्द रूप है। अतएव एक प्रकार से वह विशुद्ध चैतन्य है, निष्कल, अव्यय, निर्गुण और सनातन है। इसकी अनुभूति आत्म-ज्ञान द्वारा ही संभव है। अतः यह स्पष्ट है कि रसानुभूति इस स्तर की अनुभूति नहीं है। इसके दो कारण हैं—प्रथम, वह अनुभूति शुद्ध चैतन्य की अनुभूति न होकर आनन्दमय है, द्वितीय: आत्म-ज्ञान के अभाव में भी उसकी सिद्धि हो जाती है।

शिव-तत्व

परासंवित् एक सागर के समान है और जितना भी परिवर्तन है वह उसके ऊपरी धरातल पर होता है—उसी प्रकार जैसे लहरों की सृष्टि सागर के ऊपरी धरातल पर ही होती है। प्रथम तत्व, जो परासंवित् से व्यक्त होता है शिवतत्व कहलाता है। वह चेतन है जो सारी सृष्टि में व्याप्त है। यह स्थायी है, मात्र चित् है और यह ज्ञान का अहम् पक्ष है। यह ज्ञाता है, भोक्ता है और सारी सृष्टि का आधार है—उसी प्रकार जिस प्रकार नदी का धरातल जल का आधार है। यह वह अवस्था है जिसमें केवल अहम् का ज्ञान है, इदम् का नहीं। इसे प्रकाश भी कहा जाता है। वह स्थाणु है और इसलिए उसमें सृष्टि की शक्ति का अभाव है।

शक्ति-तत्व

सृष्टि के विकास में दूसरे तत्व के रूप में शक्ति का उदय होता है। इसे विमर्श या अवमर्श भी कहा जाता है। यह क्रिया-शक्ति से युक्त है और विषय अथवा इदम् पक्ष है। जिस प्रकार शिव चित् है उसी प्रकार यह आनन्द रूप है। शिव और शक्ति—दोनों शाश्वत तत्व हैं और अविनश्वर हैं। प्रलय के समय वे अव्यक्त रूप से परासंवित् में आसीन होते हैं। शक्ति-तत्व में इच्छा, ज्ञान और क्रिया—ये तीन शक्तियाँ विद्यमान हैं। तीनों शक्तियों का क्रमिक आवर्त्तन होता रहता है। इससे अगले तीन तत्वों का विकास होता है।

सदाशिव-तत्व

सृष्टि के विकास में उदित तीसरे तत्व को सदाशिव तत्व कहा जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है–'सदैव मंगलमय'। अतएव यह तत्व कल्याण एवं आनन्द

का प्रतीक है। इसे सदाख्य तत्व भी कहा जाता है। वस्तुतः यह चेतना का प्रथम विकसित तत्व है, अतएव यह सनातन नहीं है और इसका निर्माण एवं क्षय होता रहता है। इसमें विषय-विषयी का भान होता है, किन्तु प्रधानता अहम् की ही रहती है। इसमें अहम् और इदम् का द्वैत रहता है। इसके ज्ञान का रूप यह है-"मैं यह हूँ।" यहाँ बल 'मैं' पर है, 'मैं' ही प्रधान है और इदम् गौण है। इसमें चित्शक्ति के इच्छा पक्ष की स्थिति होती है अतः इसे इच्छा-शक्ति का आधार माना जाता है।

ईश्वर तत्व

सृष्टि के विकास में जो चतुर्थ तत्व अंकुरित होता है उसे ईश्वर कहा जाता है। यह प्रकृति की उस अवस्था का द्योतक है जिसमें समस्त सृष्टि की एकमय या अभेदमय प्रतीति होती है। ज्ञान की दृष्टि से यह वह अवस्था है जिसमें विषय को विषयी की स्पष्ट प्रतीति होती है। यहाँ विषय-विषयी का सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—"यह मैं हूँ।" यहाँ बल 'यह' पर है और यही प्रधान है। इस अवस्था में पूर्ण आत्मज्ञान रहता है। इसमें शक्ति का ज्ञान-पक्ष व्यक्त होता है। इसलिए उसे ज्ञान-शक्ति का आधार माना गया है। यह विशुद्ध ज्ञान की अवस्था है जिसमें किसी प्रकार का भाव, आसक्ति या विरक्ति नहीं है, कर्म की कोई प्रेरणा नहीं है। यह विशुद्ध प्रतिक्रिया मात्र है।

सद्विद्या तत्व

इसे शुद्ध विद्यातत्व भी कहा जाता है। यह सृष्टि के विकास में पाँचवीं अवस्था है। इसमें विषय तथा विषयी का पूर्ण ऐक्य सिद्ध होता है–'मैं यह हूँ'। इसमें अहम् का इदम् के साथ पूर्ण तादात्म्य होता है, किसी एक तत्व पर अधिक बल नहीं होता। यह क्रिया-शक्ति का आधार है। पूर्ववर्ती तत्वों में क्रिया का अभाव है। सदाशिव तत्व अहम् में विभोर होता है, ईश्वर तत्व में चेतना अपने को विषय रूप में देखती है, किन्तु सद्विद्या तत्व में चेतना पहले अहम् और फिर इदम् की ओर देखती है और इससे सृष्टि का निर्माण होता है। ये पाँच तत्व—शिव से सद्विद्या तक शुद्ध-तत्व कहलाते हैं क्योंकि इनमें अनन्त चेतना का विकास होता है तथा अहम् और इदम् का समन्वय अथवा ऐक्य रहता है। छठा तत्व माया-शक्ति है जो अहम् और इदम् का भेद कर चेतना को संकुचित करती है।

माया तत्व

माया तत्व वह है जो अरूप से रूप का, अनन्त से सान्त का, निर्माण करता है। अद्वैत दर्शन की माया से यह भिन्न है क्योंकि यह न तो चेतना से भिन्न है

और न असत्य ही है। यहाँ वह चेतना की स्थूल शक्ति मानी जाती है। प्रलय की अवस्था में यह अव्यक्त रूप में रहती है। काल (संकुचित सनातन सत्ता), नियति (संकुचित व्यापकत्व या देश), राग (संकुचित पूर्णता) जो इच्छा को जन्म देती है, विद्या (संकुचित सर्वज्ञत्व) जो आंशिक ज्ञान को जन्म देती है, और कला (संकुचित शक्ति) जो संकुचित शक्ति को जन्म देती है, माया के पाँच कंचुक हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी माया को भी छठा कंचुक कहा जाता है।

विविध तत्वों एवं कंचुकों का सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :[1]—

तत्व	शक्ति	सार्वभौम अनुभव	कंचुक	संकुचित अनुभव
शिव	चित्	नित्यता	काल	समय
शक्ति	आनन्द	व्यापकता	नियति	आकाश या देश
सदाशिव	इच्छा	पूर्णता	राग	इच्छा
ईश्वर	ज्ञान	सर्वज्ञत्व	विद्या	संकुचित ज्ञान
सद्विद्या	क्रिया	सर्वकर्तृत्व	कला	संकुचित शक्ति

पाँच कंचुकों का रूप इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

१. **काल**—यह सनातन सत्ता को संकुचित करता है अतः इससे समय का जन्म होता है। यह किसी वस्तु के विषय में 'कब ?' प्रश्न का ज्ञान प्रदान करता है।

२. **नियति**—यह वह शक्ति है जो अनन्त व्यापकता की अवस्था को संकुचित करती है अतः यह दिक् को जन्म देता है। इससे किसी वस्तु के विषय में 'कहाँ ?' प्रश्न का ज्ञान होता है।

३. **राग**—यह वह शक्ति है जो पूर्णता की स्थिति को संकुचित करती है अतः इच्छा का मूल है।

४. **विद्या**—यह वह शक्ति है जो सर्वज्ञत्व की स्थिति को संकुचित करती है अतः यह अल्पज्ञत्व को जन्म देती है।

५. **कला**—यह वह शक्ति है जो सर्वकर्तृत्व को संकुचित कर संकुचित शक्ति को जन्म देती है।

पुरुष और प्रकृति

माया और उसके पाँच कंचुकों के प्रभाव से पुरुष और प्रकृति का विकास होता है। पुरुष में अहम्भाव है और प्रकृति में इदम् भाव है तथा ये दोनों एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् एवं असम्बद्ध रूप से स्थित होते हैं। इस अवस्था पर

---

१. थियोस बर्नार्ड : **हिन्दू फिलॉसफी**—के आधार पर पृ० १४१

का प्रतीक है। इसे सदारव्य तत्व भी कहा जाता है। वस्तुतः यह चेतना का प्रथम विकसित तत्व है, अतएव यह सनातन नहीं है और इसका निर्माण एवं क्षय होता रहता है। इसमें विषय-विषयी का भान होता है, किन्तु प्रधानता अहम् की ही रहती है। इसमें अहम् और इदम् का द्वैत रहता है। इसके ज्ञान का रूप यह है-"मैं यह हूँ।" यहाँ बल 'मैं' पर है, 'मैं' ही प्रधान है और इदम् गौण है। इसमें चित्शक्ति के इच्छा पक्ष की स्थिति होती है अतः इसे इच्छा-शक्ति का आधार माना जाता है।

ईश्वर तत्व

सृष्टि के विकास में जो चतुर्थ तत्व अंकुरित होता है उसे ईश्वर कहा जाता है। यह प्रकृति की उस अवस्था का द्योतक है जिसमें समस्त सृष्टि की एकमय या अभेदमय प्रतीति होती है। ज्ञान की दृष्टि से यह वह अवस्था है जिसमें विषय को विषयी की स्पष्ट प्रतीति होती है। यहाँ विषय-विषयी का सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—"यह मैं हूँ।" यहाँ बल 'यह' पर है और यही प्रधान है। इस अवस्था में पूर्ण आत्मज्ञान रहता है। इसमें शक्ति का ज्ञान-पक्ष व्यक्त होता है। इसलिए उसे ज्ञान-शक्ति का आधार माना गया है। यह विशुद्ध ज्ञान की अवस्था है जिसमें किसी प्रकार का भाव, आसक्ति या विरक्ति नहीं है, कर्म की कोई प्रेरणा नहीं हैं। यह विशुद्ध प्रतिक्रिया मात्र है।

सद्‌विद्या तत्व

इसे शुद्ध विद्यातत्व भी कहा जाता है। यह सृष्टि के विकास में पाँचवीं अवस्था है। इसमें विषय तथा विषयी का पूर्ण ऐक्य सिद्ध होता है–'मैं यह हूँ'। इसमें अहम् का इदम् के साथ पूर्ण तादात्म्य होता है, किसी एक तत्व पर अधिक बल नहीं होता। यह क्रिया-शक्ति का आधार है। पूर्ववर्ती तत्वों में क्रिया का अभाव है। सदाशिव तत्व अहम् में विभोर होता है, ईश्वर तत्व में चेतना अपने को विषय रूप में देखती है, किन्तु सदविद्या तत्व में चेतना पहले अहम् और फिर इदम् की ओर देखती है और इससे सृष्टि का निर्माण होता है। ये पाँच तत्व—शिव से सदविद्या तक शुद्ध-तत्व कहलाते हैं क्योंकि इनमें अनन्त चेतना का विकास होता है तथा अहम् और इदम् का समन्वय अथवा ऐक्य रहता है। छठा तत्व माया-शक्ति है जो अहम् और इदम् का भेद कर चेतना को संकुचित करती है।

माया तत्व

माया तत्व वह है जो अरूप से रूप का, अनन्त से सान्त का, निर्माण करता है। अद्वैत दर्शन की माया से यह भिन्न है क्योंकि यह न तो चेतना से भिन्न है

और न असत्य ही है। यहाँ वह चेतना की स्थूल शक्ति मानी जाती है। प्रलय की अवस्था में यह अव्यक्त रूप में रहती है। काल (संकुचित सनातन सत्ता), नियति (संकुचित व्यापकत्व या देश), राग (संकुचित पूर्णता) जो इच्छा को जन्म देती है, विद्या (संकुचित सर्वज्ञत्व) जो आंशिक ज्ञान को जन्म देती है, और कला (संकुचित शक्ति) जो संकुचित शक्ति को जन्म देती है, माया के पाँच कंचुक हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी माया को भी छठा कंचुक कहा जाता है।

विविध तत्वों एवं कंचुकों का सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :[1]—

तत्व	शक्ति	सार्वभौम अनुभव	कंचुक	संकुचित अनुभव
शिव	चित्	नित्यता	काल	समय
शक्ति	आनन्द	व्यापकता	नियति	आकाश या देश
सदाशिव	इच्छा	पूर्णता	राग	इच्छा
ईश्वर	ज्ञान	सर्वज्ञत्व	विद्या	संकुचित ज्ञान
सद्विद्या	क्रिया	सर्वकर्तृत्व	कला	संकुचित शक्ति

पाँच कंचुकों का रूप इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

१. **काल**—यह सनातन सत्ता को संकुचित करता है अतः इससे समय का जन्म होता है। यह किसी वस्तु के विषय में 'कब ?' प्रश्न का ज्ञान प्रदान करता है।

२. **नियति**—यह वह शक्ति है जो अनन्त व्यापकता की अवस्था को संकुचित करती है अतः यह दिक् को जन्म देता है। इससे किसी वस्तु के विषय में 'कहाँ ?' प्रश्न का ज्ञान होता है।

३. **राग**—यह वह शक्ति है जो पूर्णता की स्थिति को संकुचित करती है अतः इच्छा का मूल है।

४. **विद्या**—यह वह शक्ति है जो सर्वज्ञत्व की स्थिति को संकुचित करती है अतः यह अल्पज्ञत्व को जन्म देती है।

५. **कला**—यह वह शक्ति है जो सर्वकर्तृत्व को संकुचित कर संकुचित शक्ति को जन्म देती है।

पुरुष और प्रकृति

माया और उसके पाँच कंचुकों के प्रभाव से पुरुष और प्रकृति का विकास होता है। पुरुष में अहम्भाव है और प्रकृति में इदम् भाव है तथा ये दोनों एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् एवं असम्बद्ध रूप से स्थित होते हैं। इस अवस्था पर

---

१. थियोस बर्नार्ड : **हिन्दू फिलॉस्फी**—के आधार पर पृ० १४१

आकर चेतना और पदार्थ के द्वैत की पूर्ण स्थापना हो जाती है और आगे की सृष्टि वा विकास सांख्य दर्शन के अनुसार ही माना जाता है। बाह्य रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी मूलतः पुरुष और प्रकृति दोनों ही उस परमशक्ति के तत्व हैं, दोनों ही सत्य हैं किन्तु यह द्वैत मिथ्या है। इस द्वैत का कारण माया है और साधक निरन्तर ज्ञान-साधना द्वारा इस ऊपरी द्वैत का भेदन कर आन्तरिक सामरस्य की अनुभूति करता है जो मोक्ष की अवस्था है।

महत्

यह वह तत्व है जिसमें सम्पूर्ण विश्व की चेतना है; जिसमें स्फुरण एवं व्यक्त होने की शक्ति है। यहाँ किसी प्रकार का अहम्, इदम् का संबंध नहीं होता। यह सम्पूर्ण दिक् एवं अभिव्यक्तियों में व्याप्त होता है। यहाँ से शक्ति का एक निर्दिष्ट विकास आरम्भ होता है जिसका अन्त भौतिक सृष्टि में होता है।

अहंकार

महत् में अहम् आदि का ज्ञान नहीं होता। अहंकार चेतना की वह स्थिति है जो पूर्ण रूप से अहम् से आविष्ट है अतएव इससे सभी सीमाओं एवं भेदों का निर्माण होता है। यह चेतना का क्रियाशील रूप है जिसमें अहम्, सम्पूर्ण इदम् से तादात्म्य स्थापित करता है।

मनस्

इसका प्रयोग व्यक्ति के मन के लिए न होकर व्यापक मन के लिए होता है। महत् और मन में अन्तर यह है कि महत् चेतना है जो अन्य तत्वों का विकास करती है, मन का विकास होता है किन्तु वह सत्ता के नवीन रूपों को जन्म नहीं देता। इस अवस्था में सृष्टि एक प्रत्यक्ष विषय के रूप में व्यक्त होती है। अहंकार में अहम् तत्व प्रधान होता है और मनस् में इदम् तत्व। महत्, अहंकार और मनस्—तीनों का विकास साथ ही होता है किन्तु केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही इनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है।

इन्द्रियाँ

इसके उपरान्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियो का विकास होता है। इनसे इच्छित वस्तुओं की सृष्टियों की निर्मिति होती है तथा ये वस्तुओं का नियंत्रण करती हैं। श्रोत (सुनने की शक्ति), त्वक् (अनुभव करने की शक्ति), चक्षु (देखने की शक्ति), रसना (आस्वाद करने की शक्ति), और घ्राण (सूँघने की शक्ति)—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाक्, उपस्थ, पायु, पाणि और पाद-पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

उपर्युक्त इन्द्रियाँ सूक्ष्म रूप में हैं एवं मनस् की शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा वह पाँच प्रकार से अनुभव कर सकता है तथा पाँच प्रकार से कार्य कर सकता है। ये मनस् के साथ ही विकसित होती हैं। स्पष्ट है कि बिना पदार्थों के इनकी वास्तविक सत्ता नहीं हो सकती। इसलिए जैसे ही दस सूक्ष्म इन्द्रियों का निर्माण होता है, दस तन्मात्राओं का भी विकास हो जाता है।

तन्मात्राएँ

तन्मात्रा का अर्थ है—सूक्ष्म पदार्थ। वे इन्द्रियों के सूक्ष्म तत्व हैं। वे पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। ये पाँच तन्मात्राएँ वस्तुतः अरूप शक्ति की सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ हैं। वे पदार्थ का सूक्ष्मतम रूप हैं जिनका ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से विशिष्ट पदार्थों के द्वारा ही होता है। इन्हें प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा जा सकता।

महाभूत

पंच तन्मात्राओं पर जब तमोगुण के प्रभाव की वृद्धि होती है तो पदार्थं के संकलन से पंच महाभूतों का जन्म होता है जिनके नाम हैं—आकाश, वायु, तेज, आपस, और पृथिवी। प्रकृति उन पाँच रूपों में अपने आप को व्यक्त करती है। इनके मिश्रण से सृष्टि की विविध वस्तुओं का निर्माण होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काश्मीर शैवदर्शन की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है :—

(१) इस दर्शन के अनुसार विशुद्ध चैतन्य ही मूल सत्य है जिससे सारी सृष्टि का विकास होता है। इस दर्शन में उसे परासंविन् कहा जाता है।

(२) परम सत्य के दो रूप हैं—अपर और व्यक्त। अपर रूप में वह सृष्टि से अतीत अपने आप में पूर्ण विशुद्ध चैतन्य है, तथा व्यक्त रूप में वह सृष्टि के रूप में विस्तृत है। दोनों ही रूप सत्य हैं।

(३) चेतना सृष्टि और प्रलय के क्रम से व्यक्त एवं अव्यक्त रूप धारण करती रहती है। अव्यक्त से व्यक्त रूप धारण करने का एक सुनिश्चित क्रम है जिसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है।

(४) जिस प्रकार वट के बीज में अव्यक्त रूप से वट-वृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रलय की अवस्था में भी सृष्टि बीज रूप से चैतन्य में स्थित रहती है। सृष्टि का निर्माण नहीं होता, वरन् उसकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार काश्मीर शैव-दर्शन सृष्टि के प्रसंग में अभिव्यक्तिवाद को मानता है।

(५) अभिव्यक्ति भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार चैतन्य सत्य है। सृष्टि को इस दर्शन में 'आभास' कहा जाता है जिसका अर्थ है 'भास्वर होना'। इस

अभिव्यक्ति की साधन माया है जो शक्ति का ही एक रूप होने के कारण सत्य है। वेदान्त माया को ब्रह्म से भिन्न, सत्यासत्य, और अनिर्वचनीय मानता है तथा उसके मत में सृष्टि असत्य है।

(६) परामंवित् से सृष्टि के विकास में छत्तीस तत्वों का उदय होता है।

(७) इस सृष्टि-जन्य द्वैत के मिथ्यात्व की सिद्धि होने पर व्यक्ति अपने वास्तविक रूप—विशुद्ध चैतन्य की अनुभूति करता है। इसके लिए ध्यान आदि विविध साधन हैं।

काश्मीर शैव दर्शन का विवेचन करने के उपरान्त अब यह देखने का उपक्रम किया जाएगा कि अभिनव का रस-विवेचन उससे किस रूप में संबद्ध है।

पहली बात तो यह है कि उपर्युक्त दर्शन में सृष्टि के संबंध में अभिव्यक्ति-वाद को स्वीकार किया गया है, अर्थात् सारी सृष्टि अव्यक्त रूप से विशुद्ध चैतन्य में विद्यमान रहती है और सृष्टि के समय व्यक्त हो जाती है। उसी प्रकार अभिनव के अनुसार रत्यादि स्थायी भाव सामाजिक की चेतना में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं तथा काव्य के दर्शन आदि से व्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सामाजिक में रस की अभिव्यक्ति विशुद्ध चैतन्य की सृष्टि की अभिव्यक्ति का ही एक सीमित रूप है।

सृष्टि के विपरीत क्रम में भी सामाजिक अपनी आत्मा का ध्यान करता हुआ उसके आनन्द आदि गुणों की अनुभूति करता है। उसी प्रकार सामाजिक भी रत्यादि की अभिव्यक्ति के पश्चात् आत्मस्थ आनन्द की अनुभूति रस रूप में करता है। मोक्ष के साधक के लिए संविद्विश्रान्ति आवश्यक है—जब तक उसका चित्त चंचल है उसे आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। चेतना में चांचल्य का अभाव ही संविद्विश्रान्ति है। उसी प्रकार रस की अनुभूति के लिए भी प्रमाता की चेतना शान्त होनी चाहिए। अतएव ब्रह्मानन्द एवं रसानन्द दोनों की अनुभूति के लिए संविद्विश्रान्ति अनिवार्य है। किन्तु दोनों में कुछ अन्तर भी है। रसानुभूति का संबंध शिव और शक्ति-तत्व के साथ ही है। सामाजिक के नियत प्रामातृत्व का नाश हो जाता है और वह एक अनन्त चित् की अवस्था को—शिव या प्रकाश की अवस्था को प्राप्त होता है जिसमें स्व-पर की भावना का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, शिव अहम् भाव है और शक्ति इदम् भाव। अतएव इस अवस्था में सामाजिक को अहम् का ज्ञान तो अव्यक्त रूप से रहता है, लेकिन अहम् का इदम् से संबंध नहीं रहता; अर्थात् उसे यह भान तो नहीं होता कि 'मैं रसानुभूति कर रहा हूँ।' किन्तु साथ ही उसकी अवस्था विशुद्ध चैतन्य की—परासंवित् की भी नहीं होती। अगर यह

मान लिया जाए कि उसके अहम् भाव का विनाश हो जाता है तो यह मानना पड़ेगा कि वह विशुद्ध चैतन्य की अवस्था को प्राप्त कर लेता है किन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, ऐसा नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार शिव में अहम् का ज्ञान है और उसका इदम् के साथ संबंध नहीं होता, उसी प्रकार रस-दशा में प्रमाता में भी अहम् का ज्ञान होता है किन्तु उसे इदम् के भोग का—रस के भोग का ज्ञान नहीं होता—यह ज्ञान नहीं होता कि "मैं रस का आस्वादन करता हूँ।" यह बात आगे के विवेचन से और भी स्पष्ट हो जाएगी।

जिस प्रकार रस-दशा में प्रमाता की अवस्था शिव की होती है, उसी प्रकार रस की दशा शक्ति की या विमर्श की होती है। रस आनन्द है और उधर शक्ति आनन्दमय है। दार्शनिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि रस-दशा शिव और शक्ति के सामरस्य की दशा है जिसमें अहम् का ज्ञान भी है और आनन्द भी है, किन्तु दोनों सामान्य लौकिक भोग के रूप में सम्बद्ध नहीं हैं। भोग की अवस्था में भोक्ता और भोग्य का अन्तर बना रहता है और साथ ही भोक्ता को यह ज्ञान भी रहता है कि "मैं अमुक पदार्थ का भोग कर रहा हूँ।" किन्तु रस-भोग परम भोग है जिसमें भोक्ता—सामाजिक, शिव—भी है और भोग्य—रस, विमर्श—भी है पर दोनों में विषयी-विषय के संबंध का भान नहीं है। इससे यह भी सिद्ध है कि रस आनन्द रूप ही है, विमर्श रूप ही है और इसलिए रस वस्तुतः आस्वाद्य पदार्थ न होकर आस्वाद रूप ही है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। और वह यह कि क्या काव्य वास्तव में ही व्यक्ति को शिव की अवस्था तक ले जाने में समर्थ है? यद्यपि इस की सिद्धि के लिए अभिनवगुप्त ने प्रमाता में सत्वोद्रेक, स्वार्थ की अज्ञानपूर्ण चंचलता से मुक्त होकर संविद्विश्रान्ति आदि की चर्चा की है एवं साधारणीकरण की स्थापना की है, फिर भी यह मान्यता कि काव्य व्यक्ति को शिवत्व की स्थिति तक—चाहे अल्प काल के लिए ही सही—ले जाता है, एक दार्शनिक-सांप्रदायिक मान्यता ही समझनी चाहिए। यह सवाल हो सकता है कि साधारणीकरण की इस विषय में क्या उपयोगिता है? साधारणीकरण की दार्शनिक व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि वह वैशिष्ट्य का लोप कर सामान्य सत्ता की—शिव तत्व की उद्भावना करता हैं। और इधर रत्यादि का विलय विमर्श के आनन्द में होता है। इस विवेचन से भी यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि साधारणीकरण रसानुभूति के लिए अनिवार्य है फिर भी वह अनुभूति के तत्व—विमर्श—से भिन्न शिव तत्व से ही संबद्ध है। किन्तु साधारणीकरण एवं रसास्वाद की यह व्याख्या उसी को ही मान्य हो सकती है जिसकी काश्मीर शैव-दर्शन में आस्था है। यह सवाल हो सकता है कि जिसकी आस्था इस दर्शन में नहीं है उसके लिए

साधारणीकरण आदि का क्या महत्व है ? क्या उसके लिए अभिनव का समस्त विवेचन अग्राह्य ही होगा ?

इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि अभिनव के रस-विवेचन में एक विशेष दार्शनिक दृष्टि का उपयोग है, फिर भी उसमें ऐसे सामान्य तत्व भी हैं जो उन व्यक्तियों को भी ग्राह्य हो सकते हैं जो उस मत में आस्था नहीं रखते। और साथ ही कुछ ऐसे तत्व भी हैं जो उन्हें ग्राह्य नहीं होंगे। प्रथम प्रकार के तत्व हैं अभिव्यक्तिवाद, सत्वोद्रेक, और साधारणीकरण। द्वितीय प्रकार के तत्व हैं रस का ब्रह्मास्वाद तुल्य होना। प्रथम प्रकार के तत्वों को ग्रहण करने पर भी स्वच्छन्दतावादी आलोचक उनकी व्याख्या को उसी रूप में ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं है जिस रूप में अभिनव ने की है। अभिव्यक्तिवाद की व्याख्या मनोविज्ञान की नवीन शोधों के आधार पर की जा सकती है, सत्वोद्रेक को औदात्य या अनुभूति की महानता आदि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है तथा साधारणीकरण की व्याख्या में भी शिव तत्व के उल्लेख का वर्जन किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय एवं विश्व के काव्यशास्त्र के विकास मे अभिनव का योगदान महत्वपूर्ण है।

सप्तम अध्याय

नव्य मत तथा अन्य मत

नव्य मत

इस मत का उल्लेख पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में किया है। इसके प्रतिष्ठापक कौन हैं, इस विषय में वे मौन हैं। इस मत में कई नवीन तत्वों का समावेश हुआ है।

रस-निष्पति

नव्यमत के अनुसार रस-निष्पत्ति के साधक दो व्यापार हैं—(१) व्यंजना-व्यापार, और (२) भावना-दोष। व्यञ्जना व्यापार के द्वारा तो दुष्यन्त-शकुन्तलादि की रति का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के पश्चात् भावना-दोष नाम के व्यापार के प्रभाव-स्वरूप सामाजिक की चेतना पर कल्पित दुष्यंतत्व का आरोप हो जाता है। ऐसा हो जाने पर सामाजिक दुष्यंत की शकुन्तलादि विषयक रति की अनुभूति करने लगता है। रति की यह अनुभूति ही रस रूप है। अतः रस-निष्पत्ति का अर्थ हुआ—दुष्यंतत्व से अवच्छिन्न सामाजिक द्वारा शकुन्तला-विषयक रति का बोध होना।[1] यद्यपि भावना-दोष के द्वारा सामाजिक

---

१. **नव्यास्तु—काव्ये नाट्ये च, कविनानटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौशकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लसितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यान्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-रत्यादिरेव रसः।**

—पण्डितराज जगन्नाथ : **रसगंगाधर**, पृ० १०१

पर दुष्यंतत्व का आरोप हो जाता है, फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस आरोप का स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर[1] अनिर्वचनीय ख्याति के आधार पर दिया गया है। इसलिए पहले उसी के स्वरूप का विवेचन होगा।

दार्शनिक पक्ष

अनिर्वचनीय ख्याति—दर्शनशास्त्र में ख्याति का अर्थ है ज्ञान। विभिन्न मतों में ज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण विभिन्न प्रकार से किया गया है। अद्वैतवाद ख्याति—ज्ञान—को अनिर्वचनीय मानता है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए शुक्ति-रजत एवं रज्जु-सर्प का उदाहरण दिया जाता है। जगन्नाथ ने शुक्ति-रजत का उदाहरण दिया है—शुक्तिशकल इव रजत-खण्डः—जैसे सीप के टुकड़े में धूपादि के कारण चाँदी के टुकड़े का ज्ञान होने लगता है। दूसरे उदाहरण में अन्धकार में पड़ी रस्सी में सर्प का ज्ञान होने लगता है। इन उदाहरणों की समीक्षा करने पर अनिर्वचनीय ख्याति का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जब सीप के टुकड़े में चाँदी का भ्रम होने लगता है तो क्या चाँदी वस्तुतः वहाँ है ? स्पष्टतः वह वहाँ नहीं है, अतः वह असत् है। किन्तु वह वहाँ दिखाई देती है इसलिए वह सत् है। परमार्थिक दृष्टि से तो वह असत्य है किन्तु प्रतिभासिक दृष्टि से सत्य है। इसलिए उसे प्रतिभासिक सत्य भी कहते हैं। अतएव जो वस्तु या ज्ञान सत् भी हो और असत् भी तथा वस्तुतः दोनों ही न हो, उसके लिए सिवाय अनिर्वचनीय के और कोई प्रयोग हो ही नहीं सकता। अनिर्वचनीय का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह कुछ ऐसा ज्ञान है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता—अनिर्वचनीय अभावात्मक प्रयोग नहीं है वरन् यह तो भावात्मक प्रयोग है क्योंकि उस ज्ञान का स्वरूप ही यही है।

इसी प्रकार सामाजिक भी अपने आप को दुष्यंतत्व से युक्त समझने लगता है। वस्तुतः वह दुष्यंत नहीं है, फिर भी अपने आप को दुष्यंत समझने लगता है। अतः यहाँ भी अनिर्वचनीय ख्याति ही मानी जाएगी जिसका जन्म भावना-दोष से होता है।

काव्य या नाटक के प्रसंग में किसी पर किसी अन्य के व्यक्तित्व के आरोप की बात सर्वथा नवीन नहीं है। रस-सूत्र के प्रथम व्याख्याता लोल्लट ने भी 'अनुसंधान' के द्वारा नट पर रामत्व के आरोप की चर्चा की थी—"रामादावानुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तकेऽपि-प्रतीयमानो रस" (मम्मट—का० प्र०, पृ० ३५)। अन्तर इतना है कि लोल्लट ने नट पर रामत्व का आरोप माना

---

१. अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव।

—पंडितराज जगन्नाथ : रस गंगाधर, पृ० १०४

था और नव्यमत में सामाजिक पर रामादि का आरोप माना गया है। वहाँ साधन अनुसंधान था और यहाँ अनिर्वचनीय ख्याति। यदि कोई चाहे तो नट पर रामत्व के आरोप के लिए अनुसन्धान के स्थान पर अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार कर सकता है।

दर्शन में अनिर्वचनीय ख्याति का आधार अज्ञान को माना गया है और नव्यमत में भावना-दोष को उसका कारण माना है। पण्डितराज ने इसकी प्रतिष्ठा करते हुए यहाँ तक कहा है कि यद्यपि प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने साधारणीकरण को स्वीकार किया है फिर भी भावना-दोष की कल्पना वहाँ अवश्य ही करनी पड़ेगी क्योंकि साधारणीकरण के फलस्वरूप शकुन्तलादि विशेष पात्र शकुन्तलात्व को छोड़कर कामिनीत्व आदि गुणों से युक्त होकर लोक-सामान्य रूप में प्रकट होते हैं। विशेष शकुन्तलादि को सामान्य कामिनी आदि के रूप में देखना भावना-दोष नहीं है तो और क्या है? जिस भावना-दोष के द्वारा शकुन्तलादि साधारणतया प्रतीत होने लगते हैं उसी की सहायता से सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझने लगता है।[1]

वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ का उपर्युक्त तर्क असंगत है। क्योंकि यदि साधारणीकरण को भावना-दोष पर आधारित मान भी लिया जाए तो इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि जिस भावना-दोष से शकुन्तलादि साधारणतया प्रतीत होने लगते हैं उसी के प्रभाव से सामाजिक अपने आप को दुष्यंतादि समझने लगता है। दोनों कार्यों में भारी अन्तर है जिसकी ओर जगन्नाथ की दृष्टि नहीं गई। दूसरी बात यह है कि साधारणीकरण को आप चाहे भावना-दोष-जन्य मानें—चाहे किसी अन्य दोष से, वह तो सामाजिक के अनुभव से सिद्ध है। किन्तु सामाजिक पर दुष्यंतत्वादि का आरोप हो जाता है, यह किसी के भी अनुभव से सिद्ध नहीं किया जा सकता। कोई भी सहृदय शकुन्तला नाटक देखते हुए अपने आप को दुष्यंतत्व से अवच्छिन्न नहीं मानता। इसलिए कारण की कल्पना कार्य के अनुरूप एवं उसके आधार पर ही होनी चाहिए, यह पण्डितराज स्वयं मानते हैं।[2] जहाँ कार्य होता ही नहीं

---

१. **यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोषविशेष कल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यक कल्प्ये दोषविशेष, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेद बुद्धिरपि सूपपादा।**

—पंडितराज जगन्नाथ : **रस गंगाधर**, पृ० १०५

२. **कार्यानुरोधन कारणस्य कल्पनीयत्वात्।**

—वही, पृ० १०६

वहाँ कारण की मान्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः भावना-दोष से सामाजिक पर दुष्यंतत्व का आरोप हो जाता है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त ज्ञान होने पर सीपी सीपी और रस्सी रस्सी प्रतीत होने लगती है तथा चाँदी और साँप के ज्ञान बाधित हो जाते हैं। मगर काव्य के दर्शन या श्रवण के बाद इस प्रकार का कोई बाध नहीं होता। सामाजिक यह नहीं सोचता कि मैंने भ्रमवश अपने को दुष्यन्त समझ लिया था, क्योंकि वह अपने आप को दुष्यंत कभी भी नहीं समझता।

रस का स्वरूप

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि दुष्यंतत्व से अवच्छिन्न सामाजिक द्वारा अनुभूत शकुन्तलादि विषयक रति ही रस है-अनिर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादि-विषयक रत्यादिरेव रसः—(रसगंगाधर, पृ० १११)। यह तो हुआ रस का लक्षण। इसी से रस की अन्य विशेषताएँ भी निसृत होती हैं।

१—**रस अनिर्वचनीय है**—अनिर्वचनीय ख्याति का विवेचन पहले ही चुका है। उसके आलोक में देखने पर सिद्ध होगा कि नव्यमत का रस वस्तुतः एक अनिर्वचनीय व्यापार हैं। क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से तो रत्यादि भाव दुष्यंत में ही स्थित हैं, सामाजिक में नहीं किन्तु सामाजिक को वे अपने में ही प्रतीत होते है। तात्विक दृष्टि से रस सामाजिक में असत् हैं और लौकिक दृष्टि से सत्। इसलिए रस भी अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है।

२—**रस कार्य है**—पारमार्थिक दृष्टि से असत् एवं अनिर्वचनीय होने पर भी जिस प्रकार इस संसार में कार्य-कारण भावादि की चर्चा की जाती है उसी प्रकार रस को असत् एवं अनिर्वचनीय मानते हुए भी उसे कार्य माना गया है। क्योंकि वह भावना-दोष के कारण उत्पन्न होता है तथा उसके नष्ट होने के साथ ही रस का भी नाश हो जाता है।[1]

३—**रस व्यंग्य और वर्णनीय है**—शकुन्तलादि विषयक रति विभावादि द्वारा व्यंजित होती है तथा विभावादि के रूप में उसका वर्णन भी होता है। अनिर्वचनीय ख्याति के कारण सामाजिक स्वानुभूत रति को और शकुन्तलादि विषयक दुष्यंत की रति को अभिन्न समझने लगता है। इसलिए शकुन्तलादि विषयक रति के समान भी सामाजिक की अनुभूत रति; रस—भी व्यंग्य और वर्णनीय है।

रस के व्यंग्यत्व का निराकरण पीछे किया जा चुका है। प्रस्तुत तर्क के खंडन में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि यदि अनिवर्चनीय ख्याति की कल्पना ही निराधार है तो फिर आगे के प्रश्न तो उत्पन्न ही नहीं होते।

---

१. **अयं च कार्यो दोषविशेषस्य, नाशश्च तन्नाशस्य।**
—पंडितराजराज जगन्नाथ : **रस गंगाधर, पृ० १०१**

४—**रस सुख रूप है**—सामाजिक की रति और दुष्यंत की शकुन्तला-विषयक रति के अभेद के कारण उसे भी सुखमय मान लिया जाता है।[1] इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि रति सुखात्मक भाव है, शोक आदि दुःखात्मक अनुभूतियों में तो सामाजिक को भी दुःख का अनुभव होना चाहिए। यदि इसका यह उत्तर दिया जाए कि दुःख वास्तविक शोक से होता है न कि कल्पित शोक से, तो यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि साँप में रस्सी के भ्रमात्मक ज्ञान से भय-कम्पादि का उदय हो सकता है तो भ्रमात्मक शोक की अनुभूति से सहृदय को भी दुःख होना चाहिए।[2] और यदि भ्रमात्मक शोकादि से सामाजिक को दुःख नहीं हो सकता तो यह भी मानना चाहिए कि भ्रमात्मक रत्यादि से उसे सुख भी नहीं हो सकता।

इस आक्षेप के उत्तर में सहृदय के अनुभव को ही प्रमाण माना गया है। यदि सहृदय को काव्य के शोक में सुखानुभूति होती है तो रस को सुखमय मानना पड़ेगा और यदि उसे सुख और दुःख दोनों की अनुभूति होती है तो करुण रस को सुखात्मक-दुःखात्मक दोनों ही मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसी अवस्था में भी सुख को प्रधान और दुःख को गौण मानना पड़ेगा क्योंकि यदि दुःख ही प्रधान हुआ तो फिर न तो कवि करुण रस की रचनाएँ लिखेंगे और न सामाजिक ही उन्हें पढ़ेंगे। सुख की प्रधानता मानने पर ही लोगों की रुचि करुण रस के काव्यों में होगी। उदाहरण के लिए चन्दन के घिसने आदि में दुःख होता है किन्तु उससे प्राप्त शीतलता कहीं अधिक सुखदायक होती है, इसीलिए लोगों की प्रवृत्ति चन्दन घिसने की ओर होती है।[3]

---

१. स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखव्यपदेश्यो भवति।

—वही, पृ० १०३

२. नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्ऽप्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्।

न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तम् न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्, रज्जुसर्पादिर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः, सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्।

—वही, पृ० १०५-१०६

३. सत्यम्, शृङ्गारप्रधान काव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लो-

५—**रस अलौकिक है**—इस प्रकार रस लोकानुभूति से सर्वथा भिन्न लोकोत्तर ही सिद्ध होता है क्योंकि उसमें शोकादि अनुभूतियाँ भी सुखमय हो जाती हैं। यह सब काव्य के अलौकिक व्यंजना व्यापार की महिमा का ही फल है। काव्य से जो आनन्द प्राप्त होता है वह अन्य किसी भी साधन से प्राप्त नहीं होता। इसलिए उसे विलक्षण ही मानना चाहिए।[1]

रस का आश्रय

इस मत के अनुसार सामाजिक ही रस का आश्रय है। मगर वह यथार्थ आश्रय नहीं है, क्योंकि रत्यादि भाव उसमें प्रतीत होते हैं, वस्तुतः हैं नहीं। इसलिए इस मत में एक दृष्टि से तो सामाजिक आश्रय है, दूसरी दृष्टि से नहीं। इसलिए सामाजिक का आश्रयत्व भी अनिर्वचनीय ही है।

रसास्वाद

रसास्वाद के विषय में यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब रत्यादि वस्तुतः सामाजिक में हैं ही नहीं तो वह उनका आस्वाद कैसे करता है? यहाँ उत्तर में आस्वाद का साधन भी अनिर्वचनीय ख्याति को ही बताया गया है जिसके फलस्वरूप सामाजिक अपने आप को दुष्यंत समझने लगता है।[2] वस्तुतः वह दुष्यंत की रति का अस्वादन तो कर ही नहीं सकता क्योंकि वह परगत है। अनिर्वचनीय ख्याति से उत्पन्न भ्रम उस पर दुष्यंतत्व का आरोप कर देता है और दुष्यंत की रति का आस्वाद भी सुलभ करता है।

कोत्तरव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव, दुःख प्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्।

अथ यद्याह्लाद एव दुःखमपि प्रमाणसिद्धम्, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम् स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति।

अथ तत्र कवीनांकर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः? अनिष्ट साधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वादिति चेत्। इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः। —वही, १०६, १०७, १०८

१. अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। विलक्षणो हि कमनीय काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्। —वही, पृ० १०९

२. दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्वन्न रसत्वम्। स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्सम्बन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः। स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता। —वही, पृ० १०४

मूल्यांकन

यह मत वस्तुतः स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके दो कारण हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। प्रथम, यह मत सामाजिक के अनुभव के अनुकूल नहीं है; द्वितीय, सभी भ्रमात्मक ज्ञानों का बाध होता है और फिर उससे विरक्ति हो जाती है तथा ग्लानि पैदा होती है, किन्तु काव्य-दर्शन के बाद ऐसा नहीं होता।

परकीय मत

इस मत का विवेचन अत्यंत संक्षिप्त है—केवल बारह-तेरह पंक्तियों में ही इसका विवेचन हुआ है। इसलिए इस मत के सभी पक्षों—निष्पत्ति आदि का अत्यंत संक्षिप्त वर्णन ही मिलता है।

रस-निष्पत्ति

नव्यमत में रस-निष्पत्ति की व्याख्या करने के लिए व्यंजना और अनिर्वचनीय ख्याति का उल्लेख किया गया था। यह मत उन दोनों ही व्यापारों को अस्वीकार कर देता है और केवल भावना-दोष के आधार पर ही निष्पत्ति की व्याख्या करता है। अन्त में यह भी उल्लेख किया गया है कि इस मत में रत्यादि की प्रतीति के लिए अनुमान को स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि व्यंजना के अभाव में रत्यादि की प्रतीति कैसे होगी ? ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के मानने वाले अनुमान को नहीं मानते थे। यह पण्डितराज की मौलिक उद्भावना प्रतीत होती है तभी उसका उल्लेख अन्त में किया गया है, तथा कहा गया है कि अनुमान को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा।[1] अतः इस मत में रस-निष्पत्ति के अन्तर्गत दो व्यापार मानने होंगे : १—अनुमान, और २—भावना-दोष। अनुमान के द्वारा तो रत्यादि का ज्ञान होता है—वैसे ही जैसे शंकुक ने अनुमिति के द्वारा रसास्वाद की व्याख्या की थी। और भावना-दोष के प्रभाव से सामाजिक दुष्यन्तादि से तादात्म्य करके शकुन्तलादि-विषयक रति को रस रूप में अनुभव करता है।[2]

---

१. तत्र रते र्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद्, व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम्।
—वही, पृ० ११३

२. परेतु—व्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि, प्रागुक्त दोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः।
—वही, पृ० ११०

यह आक्षेप किया जा सकता है कि स्वप्न में व्यक्ति अन्य-अन्य व्यक्तियों से तादात्म्य का अनुभव करता है, तो क्या उसकी अनुभूति को भी रस कहना चाहिए ? वस्तुतः वह रस नहीं है, क्योंकि उसमें रस जैसा आनन्द नहीं होता ।[1]

रस का स्वरूप

रस के स्वरूप के विषय में आनुषंगिक रूप से ही दो विशेषणों का प्रयोग हुआ है—१. विलक्षण, २. आह्लाद । अतः रस विलक्षण है—लोकानुभव से भिन्न है क्योंकि वह केवल काव्य में ही पाया जाता है, तथा वह आह्लादमय है । क्योंकि यदि वह आनन्दमय न हो तो कोई भी करुण रस की रचनाओं की ओर प्रवृत्त नहीं होगा ।

रस को लौकिक साक्षात् रत्यादि से भिन्न भ्रम माना गया[2] है । यदि वह भ्रमात्मक है तो उसे दार्शनिक दृष्टि से अनिर्वचनीय ही मानना पड़ेगा ।

रस का आश्रय

रस का आश्रय सामाजिक ही है । किन्तु यहाँ भी सामाजिक को अपने में रस की भ्रमात्मक प्रतीति ही होती है । यदि वह प्रतीति भ्रमात्मक है तो उसके लिए अनिवर्चनीय का ही प्रयोग हो सकता है और अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करना ही होगा ।

रस का आस्वाद

रस का आस्वाद लौकिक आस्वादों से विलक्षण है क्योंकि वह भ्रमात्मक है ।

मूल्यांकन

वस्तुतः यह मत एक बड़ा सामान्य कोटि का है और इसका किसी भी दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं—न दार्शनिक दृष्टि से, और न काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही ।

---

१. स्वप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः । तेन न तत्र तादृशाह्लादापत्तिः ।

—वही, ११०

२. मैवम्, न ह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः,
येनावश्यं विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात् ।
अपितु भ्रमः ।　　　　—वही, पृ० १११

अन्यमत

पंडितराज जगन्नाथ ने उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त पांच अन्य मतों का उल्लेख भी किया है। यह उल्लेख इतना संक्षिप्त है कि इससे उन मतों के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती। केवल ऐतिहासिक उपयोगिता के आग्रह से ही उन्हें यहाँ दिया जा रहा है।

(१) विभावादि तीनों ही सम्मिलित होने पर रस कहलाते हैं।[1] वस्तुतः यह ही भरत का मूल मत प्रतीत होता है और इसका विवेचन किया जा चुका है।

(२) विभावादि तीनों में जो चमत्कारी है, वही रस है। यदि चमत्कार न हो तो तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकते।[2] यह मत चमत्कारवादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया होगा। विभावादि में चमत्कार का होना काव्य के उत्कर्ष का हेतु है, किन्तु मात्र चमत्कार से ही कोई एक अवयव ही रस कहला सकता है, यह तो सर्वथा भ्रान्त धारणा है क्योंकि जहाँ कहीं उन तीनों में से एक चमत्कारपूर्ण रूप में विद्यमान होगा, अन्य अवयवों का समाहार स्वयमेव हो ही जाएगा।

३—भाव्यमान विभाव ही रस है।[3]
४—भाव्यमान अनुभाव ही रस है।[4]
५—भाव्यमान व्यभिचारी भाव ही रस है।[5]

उपर्युक्त तीनों मतों को तो पंडितराज ने अस्वीकार कर दिया है, क्योंकि वे तो मूल रस-सूत्र के ही विरुद्ध हैं।[6] रस-सूत्र में विभावादि के संयोग की

---

१. 'विभवद यस्त्रयः समुदिता रसाः' इतिकतिपये।
—वही, पृ० ११६

२. 'त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः। अन्यथा तु त्रयोऽपि न।' इति बहवः। —वही, पृ० ११६

३. 'भाव्यमानो विभाव एव रसः'—इत्यन्ये।

४. 'अनुभावास्तथा'—इतीतरे।

५. 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति'—इति केचित्।
—वही, पृ० ११६, ११७

६. तदेवं पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्र विरोधः।
—वही, पृ० ११६

कल्पना की गई है और यहाँ उनमें से प्रत्येक को रस माना गया है। काव्य में जहाँ विभावादि में से एक का भी भावन होगा, वहाँ अन्य अवयवों का समाक्षेप स्वयमेव हो जाएगा। ऐसी अवस्था में मूल सूत्र खंडित नहीं होगा। किन्तु यह मानना कि कोई भी रसावयव पृथक् रूप से ही रसत्व को प्राप्त कर सकता है, सर्वथा भ्रान्त धारणा है।

अष्टम अध्याय

मधुर रस

रस-सम्बन्धी विविध मतों की समीक्षा करते हुए हमने यह देखा कि किस प्रकार उसमें दर्शन के विविध मतों का उपयोग किया गया है। जिस युग में जीवन का आधार दर्शन एवं धर्म हो, उसमें यह आशा करना स्वाभाविक ही है कि जीवन की विविध साधनाओं एवं उपलब्धियों के स्वरूप की प्रतिष्ठा में दार्शनिक-धार्मिक अवधारणाओं का प्रयोग हो। इस प्रकार का प्रयास जीवन की विविध साधनाओं एवं सिद्धियों के बीच सन्तुलन एवं सामरस्य की स्थापना के लिए आवश्यक है।

दार्शनिक-धार्मिक चेतना युगानुरूप विकसित होती रहती है और यह स्वाभाविक ही है कि इसके विकास के अनुरूप ही अन्य संबद्ध विषयों में भी विकास हो। भारत की दार्शनिक-धार्मिक चेतना के विकास के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए हमें उसकी साधना की तीन सरणियाँ लक्षित होती हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। कर्म का पूर्ण वैभव ब्राह्मण ग्रन्थों में लक्षित होता है, ज्ञान की चरम परिणति उपनिषदों में मिलती है और भक्ति का चमत्कारपूर्ण उत्कर्ष मध्यकालीन वैष्णव आचार्यों में लक्षित होता है। यद्यपि ये साधनाएँ अपने तात्विक रूप में एक-दूसरे के विरोध में नहीं आतीं फिर भी सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों के कारण इनमें बाह्य-भिन्नता और कभी-कभी विरोध के दर्शन भी होते हैं। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि ये तीनों साधना-पद्धतियाँ लगभग पाँचवीं शती ईसा पूर्व से एक साथ प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं, किन्तु युग की भावनाओं एवं

आकांक्षाओं के अनुरूप कभी एक पद्धति पर अधिक बल दिया गया है और कभी दूसरे तत्व पर, कभी एक का महत्व अधिक रहा और कभी दूसरी का। सामान्य रूप से इसे एक निश्चित ऐतिहासिक क्रम में रखा जा सकता है। लगभग ईसा से पाँचवीं शती पूर्व तक के युग में कर्मकांड का प्रभुत्व रहा। बौद्ध धर्म के प्रतिवर्त्तन के साथ ही कर्मकांड का क्षय आरंभ हो जाता है और ज्ञान एवं भक्ति का प्राधान्य रहता है। आरंभ में ज्ञान ही प्रधान रहा, पीछे महायान में भक्ति की प्रतिष्ठा भी हुई। लगभग चौथी शती ईसा पूर्व में ही पाञ्चरात्र धर्म का वर्णन भी मिलता है जो भक्ति का एक रूप है। उधर महायान में भक्ति तत्व का समावेश हुआ और इधर वैष्णव-भक्ति का विकास हुआ। गुप्तकाल में, ईसा की चौथी शताब्दी में वैष्णव धर्म का विशेष प्रचार रहा। ईसा की छठी शताब्दी से तांत्रिक साहित्य का भी एक क्रमबद्ध विकास लक्षित होता है जिसमें दक्षिणाचार और वामाचार की दो शाखाएँ हुईं। इस प्रकार इस काल में दार्शनिक-धार्मिक चेतना विभिन्न पद्धतियों एवं रीतियों में प्रवाहित हो रही थी—एक दर्शन का मार्ग था जिसे नागार्जुन आदि ने प्रवर्त्तित किया, दूसरा भक्ति का मार्ग था जो महायान में; वैष्णव धर्म में और शैवधर्म में प्रकट हुई, तीसरी वामाचार की पद्धति थी। इस विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये तीनों तत्व—दार्शनिक चिन्तन, भक्ति-साधना और वामाचार—बहुत कुछ एक-दूसरे से असम्बद्ध से थे। भक्ति-साधना के आधार-स्वरूप किसी दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी और वामाचार में भी उसके आधारभूत दार्शनिक तत्वों की अपेक्षा बाह्याचार और फिर बाद में हठयोग के विलक्षण आचार का प्राधान्य होने लगा।

ईसा की आठवीं शती में शंकराचार्य ने भक्ति को माया एवं भ्रम के अन्तर्गत माना। इस मान्यता की तीव्र प्रतिक्रिया रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों की परम्परा में हुई। इन आचार्यों ने भक्ति को निश्चित दार्शनिक आधार प्रदान किया और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की। इस प्रकार भक्ति को व्यापक महत्व प्रदान किया गया और वही जनता की प्रधान साधना-पद्धति बनी। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि भक्ति के तत्व महाभारत काल में भी अत्यंत सशक्त रूप से विद्यमान थे, किन्तु उसे पूर्ण प्रभुत्व तेरहवीं शती से मिला। इस भक्ति-पद्धति में लक्ष्मी और विष्णु, शक्ति और शिव, राधा और कृष्ण तथा सीता और राम की आराधना को स्वीकार किया गया। वैष्णव आचार्यों में शक्ति और शिव के अतिरिक्त अन्य युगल-त्रय की स्थापना देखने में आती है। वैधी एवं रागानुगा दोनों प्रकार की भक्तियों को स्वीकार किया गया—भक्ति में प्रेम के महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया।

किन्तु भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश एक विलक्षण बात प्रतीत होती है। यह समावेश कैसे और क्यों कर हुआ ? इसके विस्तृत विवाद को यहां अवकाश नहीं है, किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके उदय में वाम-मार्गी साधना का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा होगा। ग्यारहवीं-बारहवीं शती में यह साधना भी पूरे ज़ोरों पर थी और इसलिए यह मानने के लिए एक ठोस आधार भी प्राप्त है। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए वाममार्गी तन्त्रों के मूल दर्शन की कुछ बातों का संकेत करना आवश्यक है। इसमें बोधिचित्त, करुणा एवं उपाय तथा प्रज्ञा और शून्यता का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाएगा।

बोधिचित् का अर्थ है वह मन जो बोधिसत्व की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है। इसके अन्तर्गत दो तत्त्व हैं—एक प्रज्ञा, और द्वितीय उपाय। प्रज्ञा स्त्री-रूपा और निष्क्रिय है तथा उपाय पुरुष-रूप एवं सक्रिय है। प्रज्ञा को शून्यता और उपाय को करुणा भी कहा गया। प्रज्ञा और उपाय के अन्य नाम इड़ा और पिंगला, स्वर और व्यञ्जन, आली एवं काली भी कहे गये हैं। मूल रूप में प्रज्ञा और उपाय दोनों समरस हैं, किन्तु अज्ञान के कारण उनमें विछोह हो जाता है और मनुष्य दुःख का भागी बनता है। जब तक उनका द्वैत रहता है, तब तक जीव बन्धन में रहता है। इनके मिलन में ही महासुख है और इनके पूर्ण सामरस्य को ही युगनद्ध कहा गया है। किन्तु स्थूल रूप से इस प्रज्ञा और उपाय के इस मिलन को पुरुष और नारी के मिलन के रूप में प्रदर्शित किया गया है। अतः यह स्थूल मिलन 'सामरस्य' एवं 'महासुख' की अवस्था का प्रतीक है। किन्तु बाद में इस मूल अर्थ को छोड़कर बाह्य रूप को प्राधान्य देने के कारण वामाचार की वृद्धि हुई।

स्पष्ट है कि उक्त प्रकार के वामाचार का घोर विरोध होता और वह हुआ भी। किन्तु साथ ही वामाचार ने प्रणय के महत्त्व को पूर्ण रूप से उद्भासित कर दिया। दर्शन में तो प्रणय की स्वीकृति का सवाल ही नहीं था। हाँ, भक्ति जो कि राग का मार्ग है, उसमें इसके समावेश का अवकाश था और वह समावेश कर भी लिया गया। किन्तु इसमें एक मूलभूत परिवर्तन आ गया।

वह यह कि प्रज्ञा और उपाय के समक्ष राधा-कृष्ण की उद्भावना है, प्रज्ञा और उपाय के मिलन के समान ही राधा-कृष्ण के मिलन प्रसंग भी भक्ति-साधना में गृहीत हुए। किन्तु देखना यह है कि भक्त का उस मिलन से क्या सम्बन्ध रहा ? यहाँ एक ऐसी मान्यता प्रस्तुत की जिसने साधना पद्धति में वामाचार को जड़ से ही काट दिया। और वह यह कि केवल कृष्ण को ही पुरुष-रूप माना गया और उनके अतिरिक्त अन्य सभी जीवों को स्त्री-रूप। इसलिए जीवों और जीवों के बीच प्रणय या संभोग की बात ही पैदा नहीं होती। इस प्रकार सभी स्त्री-

पुरुष मूलतः स्त्री रूप ही माने गए। और प्रणय भाव का आलम्बन माना गया केवल कृष्ण को। इस प्रकार माधुर्य भाव का समावेश भक्ति-पद्धति में हुआ और साथ ही वामाचार का भी मूलोच्छेद हो गया। इस प्रकार कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति की प्रतिष्ठा हुई जिसे वल्लभ-संप्रदाय में और गौड़ीय संप्रदाय में सब से अधिक महत्व मला। गौड़ी संप्रदाय ने तो माधुर्य भाव अथवा प्रेम को चारों पुरुषाथ से ऊपर पांचवें पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

एक ओर तो वैष्णव भक्ति में माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा हुई और उधर राधा-कृष्ण के मिलन-संभोग आदि के साहित्य की परम्परा चली। इस प्रकार साहित्य-साधना और प्रेम-साधना परस्पर सम्बद्ध एवं अन्योन्याश्रित रूप से चलने लगी। उधर साहित्य में रस की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और उसे साहित्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जा चुका था। किन्तु रस-परिकल्पना का आधार दार्शनिक चिन्तन था। जिस प्रकार भट्टनायक आदि ने रस एवं दार्शनिक चिन्तन के समन्वय का प्रयास किया, उसी प्रकार रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्जवल नीलमणि' में रस और प्रेम-साधना के समन्वय का प्रयास किया। इन दोनों प्रयासों में मूलभूत समानता यह है कि जब दर्शन प्रधान था तब दर्शन के आधार पर रस की व्याख्या की गई, जब माधुय भाव की साधना का प्रतिवर्त्तन हुआ तब उसके आधार पर रस की व्याख्या प्रस्तुत की। माधुर्य साधना को भी दर्शन पर आधारित किया गया किन्तु वहाँ दर्शन गौण था और भक्ति प्रधान थी। रूप गोस्वामी दर्शन के रूप में अचिंत्य भेदाभेद को मानते थे किन्तु मधुर रस की व्याख्या में उन्होंने 'लीला' का पूर्ण प्रयोग किया। अतः मधुर रस को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए इन दोनों पक्षों—'अचिंत्यभेदाभेदवाद' तथा 'लीला' के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया जाएगा।

१—अचिंत्य भेदाभेदवाद

रूप गोस्वामी महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे और उन्होंने 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' और 'उज्जवल नीलमणि' में उन्हीं के भक्ति-सिद्धान्त के आधार पर रस की व्याख्या का उपक्रम किया। इसलिए मधुर रस को पूर्ण रूप से समझने के लिए चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्तों का ज्ञान उपयोगी होगा।

चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्त को 'अचिंत्यभेदाभेद' कहा जाता है। इसके अनुसार ईश्वर और जीव एवं जगत भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं क्योंकि ईश्वर शक्तिमान है और जीव-जगत उसकी शक्ति। जिस प्रकार शक्तिमान और शक्ति

दोनों ही सत्य हैं एवं भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं उसी प्रकार ईश्वर तथा जीव एवं जगत सभी सत्य भी हैं, और अभिन्न भी। यहाँ तक चैतन्य का मत निम्बार्क के द्वैताद्वैत से समानता रखता है, किन्तु चैतन्य ने इस सम्बन्ध पर आगे विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि वह तर्क की दृष्टि से असङ्गत प्रतीत होता है। मत के नामकरण से ही सम्बन्ध का यह अन्तर्विरोध स्पष्ट है और तर्क के बल पर उसका समाधान संभव नहीं है। या तो अद्वैत की स्थिति सङ्गत हो सकती है या द्वैत की। इनसे भिन्न जितनी भी स्थितियाँ हैं—विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत या अचिन्त्यभेदाभेद—उन सब का आधार शुद्ध तर्क न होकर भक्ति का आग्रह भी है। किन्तु केवल चैतन्य ने इस सत्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है और यह कहा है कि वस्तुतः ईश्वर और जीव एवं जगत का स्वरूप बुद्धि एवं तर्क की सीमा से परे है और इसीलिए वह अचिन्त्य भी है। अतएव भेदाभेद की अनुभूति का साधन ज्ञान नहीं वरन् भक्ति ही है।

चैतन्य ने निम्बार्क एवं वल्लभ के समान ही ईश्वर और उनकी शक्ति को कृष्ण और राधा के रूप में स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में कृष्ण साक्षात् भगवान हैं, अवतार नहीं, और वृन्दावन वस्तुतः अमरपुरी है और वहाँ के निवासी मुक्त जीव हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय में आगे चलकर एक विलक्षण बात यह हुई कि उनको कृष्ण का अवतार मान लिया गया और उनकी ही पूजा आरम्भ हो गई।

परम तत्त्व—अचिन्त्यभेदाभेद के अनुसार हरि ही परम तत्व है जिसे भगवान् और ईश्वर भी कहा जाता है। परमात्मा तो उसका एक अंश मात्र है जो अन्तर्यामी है और संसार का नियन्ता है। हरि के षड् ऐश्वर्य हैं : पूर्ण श्री, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण ज्ञान, तथा पूर्ण वैराग्य। इन सभी गुणों में श्री गुण प्रधान है एवं अन्य गुण उसके अङ्ग हैं। पूर्ण रूप में हरि कृष्ण एवं राधा की युगल मूर्त्ति के द्वारा प्रकाशित हैं। कृष्ण और राधा भक्ति एवं प्रेम के अटूट बन्धन में बद्ध हैं। हरि की शक्ति अनन्त एवं अचिंत्य है जिसके द्वारा वे अनन्त हुते हुए भी कृष्ण के रूप में भी विद्यमान हैं।

तीन शक्तियाँ—यद्यपि भगवान् की शक्तियाँ अचिंत्य हैं, फिर भी तीन प्रधान शक्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। वे हैं—स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति, और माया शक्ति। भगवान् का स्वरूप सच्चिदानन्दमय है इसलिए उनकी स्वरूप शक्ति एकात्मिका होने पर भी तीन शक्तियों के रूप में प्रकाशित होती है जिनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट कार्य है। प्रथम शक्ति है संधिनी शक्ति जो भगवान् की सत्ता का आधार है तथा जिसके द्वारा वे अन्य वस्तुओं की सृष्टि करते हैं एवं उनमें व्याप्त रहते हैं। भगवान के आत्म-चैतन्य की आधारभूत शक्ति को

संवित् कहते हैं और इसके द्वारा वे दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। तृतीय है ह्लादिनी शक्ति जो भगवान् के आनन्द का कारण है तथा जो दूसरों को भी आनन्द प्रदान करती है।

दूसरी प्रधान शक्ति है तटस्थ शक्ति। इसे जीव-शक्ति भी कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा भगवान जीवों की सृष्टि करते हैं। माया शक्ति के द्वारा प्रकृति एवं जगत का आविर्भाव होता है। स्वरूप शक्ति के द्वारा जीव भी सच्चिदानन्द है किन्तु माया शक्ति के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपने आप को हरि से भिन्न समझने लगता है। यही जीव के बन्धन की स्थिति है। उक्त तीनों शक्तियों को समवेत रूप से पराशक्ति कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हरि विकारी हैं; क्योंकि जीव-जगत उनका परिणाम है अतः सत्य है। वे स्वरूप शक्ति के द्वारा निमित्त कारण भी हैं और तटस्थ, एवं माया शक्ति के द्वारा उपादान कारण भी है। किन्तु चैतन्य हरि को विकारी भी नहीं मानते। उनकी इस मान्यता का आधार भी हरि का अचिंत्य होना ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अचिंत्य' के व्यवहार द्वारा तर्क की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर दिया गया है। यही कारण है कि यह मत शुद्ध दर्शन की कोटि में नहीं रखा जा सकता वरन् शुद्ध निष्ठा अथवा विश्वास के बल पर स्थित एक सम्प्रदाय मात्र है।

भक्ति — माया-शक्ति के कारण जीव अपने आप को भूला रहता है। वह यह भूल जाता है कि वह हरि का ही अंश है। इस सम्बन्ध का ज्ञान कर लेना ही मोक्ष है। मोक्ष का साधन ज्ञान भी है और भक्ति भी। भगवान के दो रूप हैं—एक ऐश्वर्य रूप, और दूसरा माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूप की प्राप्ति ज्ञान द्वारा होती है और माधुर्य रूप की भक्ति द्वारा। भक्ति सर्वजन-सुलभ होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण है। भक्ति दो प्रकार की है—एक वैधी, और दूसरी रागानुगा। वैधी भक्ति वह है जो शास्त्रोक्त विधि-विधान के अनुरूप की जाती हैं। रागानुगा भक्ति में किसी प्रकार का शास्त्रीय बन्धन नहीं है और वह स्वच्छन्द रूप से भगवान को प्रियतम मानकर की जाती है। गोपियों की भक्ति ऐसी ही भक्ति है। यह भक्ति वैधी-भक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ है। चैतन्य मत में यह भक्ति साधन नहीं, साध्य है। भगवान की सेवा करते हुए माधुर्य रस का आस्वादन करना मोक्ष के आनन्द से कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं काम्य है। चैतन्य-मतावलम्बी मधुरा भक्ति को पंचम पुरुषार्थ मानते हैं। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' के विवेचन का आधार यही भक्ति है।

चैतन्य-मत का साहित्य बहुत कम है। उनकी स्वयं की कोई कृति प्राप्त नहीं है। कहा जाता है कि 'दशमुल श्लोक' उनकी रचना है। ऐसा भी माना जाता

है कि चैतन्य महाप्रभु भागवत को ही ब्रह्मसूत्र का मान्य भाष्य मानते थे। बाद में जीव गोस्वामी ने 'षट्-सन्दर्भ' ग्रन्थ की रचना की और १८ वीं शती में बालदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्द भाष्य लिखकर चैतन्य के मत का विवेचन किया।

७—'लीला' का स्वरूप

सृष्टि की उत्पत्ति क्यों और कब हुई ? यह प्रश्न जीवन के जटिलतम प्रश्नों में से है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से इस प्रश्न पर विचार होता आया है और इसका उत्तर हमेशा ही यह दिया जाता रहा है कि सृष्टि ईश्वर की लीला है और वह अनादि है। इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान की यह है कि दार्शनिक एवं भक्त—सभी लीला को ही सृष्टि का प्रयोजन मानते हैं 'एकाकी न रमते। सो अकामयत एकोऽहं बहु स्याम'—इत्यादि वाक्यों में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि रमण की इच्छा से ही सृष्टि का उद्भव हुआ है।

यद्यपि ज्ञानमार्गियों और भक्तों दोनों ने ही लीला के सिद्धान्त को स्वीकार किया किन्तु फिर भी दोनों के विश्लेषण-क्रम में बड़ा अन्तर है। वेदान्त के अनुसार यह लीला मिथ्या है, और आनन्द की प्राप्ति के लिए इससे छुटकारा पाना परम आवश्यक है। वहाँ कभी ब्रह्म को आनन्द-रूप माना गया है—रसो वै सः। रसंह्येव लब्ध्वा आनंदीभवति। किन्तु इस रस-रूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए इस दृश्य लीला के मिथ्यात्व की सिद्धि होनी आवश्यक है क्योंकि भेद-मिथ्यात्व पूर्वक अद्वैत की सिद्धि होती है। जब व्यक्ति इस दृश्य संसार के—लीला के—मिथ्यात्व की अनुभूति कर लेता है, तब वह अद्वय ब्रह्म रूप हो जाता है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार लीला के प्रपाञ्च का भेदन ही साध्य है। वस्तुतः लीला है ही नहीं। वह तो शुद्ध अज्ञान की उपज है। यही अनुभूति लक्ष्य है और परम पुरुषार्थ है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत्य को पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार का माना है। इसी के अनुरूप लीला भी वास्तविक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक तीन प्रकार की होती है।[1] इस विषय में मुझे तीन

१. **लीलारसिक महापुरुष लीला के तीन प्रकार अथवा भेद मानते हैं। अद्वैत वेदान्त मत में—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से सत्य का तीन रूप माना है। बौद्ध विज्ञानवाद के मत से स्वभाव का परिनिष्पन्न, परतंत्र तथा परिकल्पित ये तीन भेद कहा गया है। ठीक इसी प्रकार लीला तत्त्वविद् मनीषियों ने भी लीला के विषय में अनुरूप सिद्धान्त**

बातें कहनी हैं। पहली तो यह कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत्य के कोई भेद नहीं हैं क्योंकि जितने भेद हैं वे सब मिथ्या हैं। सत्य तो एक ही है, शेष सब असत्य है। दूसरी बात यह कि वेदान्त की दृष्टि से भक्तों द्वारा मान्य लीला भी मिथ्या ही है क्योंकि वह भेद पर आश्रित है। यही कारण है कि लीला को स्वीकार करने वाले आचार्यों को अद्वैत से भिन्न अन्यान्य दर्शनों की प्रतिष्ठा करनी पड़ी। और तीसरी बात यह है कि भक्तजन लीला से परे किसी स्थिति की कल्पना नहीं करते। उनके लिए यह लीला ही परम पुरुषार्थ है।

भक्तों ने भगवान की जो भावना की है वह अन्तर्विरोध से ग्रस्त है। एक ओर तो वे सगुण रूप को—कृष्ण या राम आदि को मानते हैं और दूसरी ओर निर्गुण ब्रह्म के सभी विशेषणों—अनन्त, अव्यय, सनातन, अचिंत्य आदि को भी उसमें समाविष्ट कर देते हैं। भक्तों की भावना के लिए सगुण रूप चाहे कितना ही ग्राह्य क्यों न हो, तर्क की दृष्टि से वह निर्दोष नहीं है। पीछे अचिंत्यभेदाभेद का विवेचन करते समय भी इस ओर संकेत किया गया था। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भक्ति-संप्रदायों की सीमा दार्शनिक मतों की अपेक्षा कहीं अधिक संकुचित हो गई। उनका एक मात्र आधार भक्तों की भावना बन गई। और वह भावना भी विविध संप्रदायों में विविध रूपों में प्रकट हुई। फल यह हुआ कि इनकी साधना-पद्धति अत्यंत संकुचित और उसकी प्रभविष्णुता अत्यंत सीमित हो गई। भावनाश्रित यह संप्रदाय यदि भावना के क्षेत्र में ही रहते तो कुछ सीमा तक उनके लिए उचित था किन्तु जब इन भावना-

---

का प्रवर्तन किया है। 'आलम्बदार' संहिता के षष्ठ अध्याय में लिखा है कि लीला भी वास्तविक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार की होती है। वास्तविक लीला का अभिनय अक्षर ब्रह्म के हृदय में होता है।······नित्य साकेत अथवा नित्य वृन्दावन में जो लीला होती है वह प्रातिभासिक है। अयोध्या अथवा व्रजभूमि में काल-विशेष में जो लीला होती है, वह व्यावहारिक है। 'आलम्बदार संहिता' में नित्य वृन्दावन लीला का भी प्रातिभासिक रूप से वर्णन किया गया है। परन्तु इस प्रकार की भेद कल्पना कृष्ण-भक्ति साहित्य में सर्वत्र नहीं पाई जाती।······अतएव समन्वय-दृष्टि से कहा जा सकता है कि वास्तव लीला और प्रातिभासिक लीला के स्वरूप में कुछ विशेष मत भेद नहीं है।

—पंडित गोपीनाथ कविराज : **'रामभक्ति में रसिक संप्रदाय' की भूमिका—पृ० १३, १४**

भिन्न संप्रदायों के आधार पर काव्यशास्त्र की विवृति की जाने लगी, या रस की व्याख्या का उपक्रम किया गया तो वह सर्वथा अग्राह्य सिद्ध होना ही था।

इस मत के अनुसार श्रीकृष्ण की चिन्मयी लीला तो नित्य रूप से गोलोक में होती रहती है। यह संसार मायामय है और इससे ऊपर चिज्जगत की सत्ता है। मायिक विश्व एवं चिज्जगत के बीच विरजा नदी है। इस चिज्जगत के चारों ओर ब्रह्मधाम है और उसे पार करने पर वैकुण्ठ के दर्शन होते हैं। इसमें भगवान नारायण विराजमान हैं और श्री आदि स्वकीया भाव से उनकी सेवा में लीन हैं। गोलोक की स्थिति वैकुण्ठ से भी ऊपर है। यहाँ के नायक कृष्ण हैं और ब्रजवनिताएँ उनकी सेवा में लीन रहती हैं। भक्त का लक्ष्य इस लीला में ही सम्मिलित होना है।

सभी व्यक्ति इस लीला में प्रवेश पाने के अधिकारी नहीं हैं। इसके लिए सिद्ध देह की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष सामान्य शरीर भौतिक देह है। उसके द्वारा निरन्तर आध्यात्मिक साधना करनी चाहिए। साधना रत देह ही साधन देह है। जब उपासना, योग आदि की साधना द्वारा साधक को अपने वास्तविक स्वरूप—स्वभाव—का ज्ञान हो जाता है तब वह सिद्ध देह को प्राप्त कर लेता है। कुछ लोग इसे भाव देह से अभिन्न मानते हैं और कुछ भिन्न। इस सिद्ध देह के द्वारा ही भक्त भगवान की लीला में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है और परम आनन्द की अनुभूति करता है। मधुर रस के स्वरूप की मीमांसा करते समय सिद्ध देह का उल्लेख किया जाएगा क्योंकि यह स्पष्ट है कि काव्य में मधुर रस का आस्वाद करने के लिए भी सिद्ध देह की ही आवश्यकता होगी।

भगवद्भक्ति के दो रूप हैं--एक वैधी, दूसरी रागानुगा। वैधी भक्ति वह है जिसमें शास्त्रोक्त विधान का पालन किया जाए। रागानुगा भक्ति का आदर्श ब्रजवासियों की भक्ति है जिसमें विधि-निषेध का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। भक्त स्वच्छंद रूप से ईश्वर की भक्ति में तल्लीन होता है। यह सख्य, वात्सल्य आदि कई प्रकार की है। इसमें गोपियों की माधुर्य भाव की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। और इसलिए प्रत्येक साधक—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—को माधुर्यभाव से ही कृष्ण की भक्ति करनी होगी—उन्हें पति रूप में मानकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करनी होगी। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि स्त्रियाँ तो मधुरोपासना कर सकती हैं किन्तु पुरुष उसमें कैसे सफलता प्राप्त करें? इसके उत्तर में कहा जाता है कि एकमात्र कृष्ण ही पुरुष हैं, शेष सब जीव स्त्री-रूप हैं। इसलिए मधुरोपासना के लिए पुरुष को अपना यह कान्ता-रूप ही जगाना पड़ेगा।

के मत को भी अभिव्यक्तिवादी मत कहा जा सकता है क्योंकि यहाँ भी भक्त के हृदय में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

किन्तु यहाँ दो मूलभूत अन्तर भी हैं जिन्हें स्पष्ट करना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि अभिनव के अनुसार रत्यादि की अभिव्यक्ति काव्य के अलौकिक व्यापार—विभावन व्यापार द्वारा होती है, किन्तु रूपगोस्वामी के मत में कृष्ण-रति की अभिव्यक्ति दीर्घ साधना का परिणाम है जो कि गुरु के आदेशानुसार की जाती है। साधक-देह और सिद्ध-देह के विवेचन में तथा भाव से प्रेम के विकास के विवरण में यह बात स्पष्ट की गई है।

दूसरी बात यह है कि अभिनव के अनुसार रत्यादि लौकिक भाव अलौकिक रस-रूप में व्यक्त होते हैं, किन्तु रूपगोस्वामी के मतानुसार तो कृष्ण-रति ही अलौकिक है।[1] अतः इनके मत में लौकिक रत्यादि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इसका कारण यही है कि इन्होंने केवल भक्त की दृष्टि से रस-निष्पत्ति की चर्चा की है, सहृदय मात्र की दृष्टि से नहीं।

रस का आश्रय—अभिनव ने सामाजिक को रस का आश्रय माना है। किन्तु इस विषय में रूपगोस्वामी का मत थोड़ा भिन्न है। वे रस का आलम्बन तो कृष्ण को मानते हैं किन्तु हरिवल्लभाओं को रस का आश्रय मानते हैं जो निरन्तर पति रूप में उनकी सेवा करती हैं। कृष्ण स्वयं भी अपनी लीला का उपभोग करते हैं इसलिये वे भी रस के आश्रय हुए। किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने भक्त को भी रस का आश्रय माना है और इस दृष्टि से कृष्ण भक्त के आलम्बन हो जाते हैं। अतः रूपगोस्वामी की दृष्टि से अनुकार्य एवं भक्त दोनों ही रस के आश्रय हैं।

रस-भेद—मूल भाव तो कृष्ण-रति ही है। किन्तु उसके मुख्य एवं गौण रूप से दो भेद होते हैं और फिर मुख्य के पाँच तथा गौण के सात भेद होते हैं।[2]

---

१. **अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता ॥**
—रूप गोस्वामी : हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २ ५ ८९

२. **स्थायीभावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः ॥**
मुख्या गौणी सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्त्तिता ॥ २।५।२

× × ×

तत्र मुख्यः
मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः ॥
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः ॥
अथ गौणः
हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि ॥
भयानकः सबीभत्स इतिगौणाश्च सप्तधा ॥ —वही, २।५।९६,९७

इस प्रकार कुल रस बारह हैं। किन्तु मधुर रस ही सब रसों का राजा है।[1] इनमें से प्रत्येक रस के स्थायी भाव, रङ्ग और देवता की कल्पना की गई है जो इस प्रकार है :—

मुख्य भक्ति रस

	रस	भाव	रंग	देवता
१—	शान्त	शान्त	श्वेत	कपिल
२—	प्रीत	विश्वस्त	चित्र	माधव
३—	प्रेयस्	मित्रता	अरुण	उपेन्द्र
४—	वात्सल्य	स्नेह	शोण	नृसिंह
५—	मधुर	श्याम	उज्ज्वल	कृष्ण

गौण भक्ति रस

	रस	भाव	रंग	देवता
१—	हास्य	हास रति	पाण्डुर	बलराम
२—	अद्‌भुत	विस्मय रति	पिंगल	कूर्म
३—	बीर	उत्साह रति	गौर	कल्कि
४—	करुण	शोक रति	धूसर	राघव
५—	रौद्र	क्रोध रति	रक्त	भार्गव
६—	भयानक	भय रति	काला	वाराह
७—	वीभत्स	जुगुप्सा रति	नील	मत्स्य[2]

इन सब रसों में स्थायीभाव एक—कृष्ण-रति—ही है जो अन्य विरोधी एवं अविरोधी भावों का समाहार कर लेती है।[3] किन्तु अन्यत्र हास रति आदि को स्थायी भाव कहा गया है। वस्तुतः कृष्ण-रति ही सब का आधार है।

सब भक्ति रसों का आस्वाद पाँच प्रकार का माना गया है। शान्त रस में पूर्ति, प्रीति आदि पाँचों रसों में विकास, वीर तथा अद्‌भुत में चित्त का

---

१. स एवोज्ज्वलापरपर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः

—रूपगोस्वामी : उज्ज्वल नीलमणि (जीवगोस्वामी की टीका), पृ० १०४

२. वही—पृ० २८३-२९८, ३०९, ३१०

—भुवेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव' : रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० २९, ३०

३. अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजते स स्थायी भाव उच्यते ॥

—वही, २।५।१,२

विस्तार, करुण तथा रौद्र में विक्षेप, एवं भयानक तथा वीभत्स में क्षोभ होता है।[1]

काव्यशास्त्र के मत की तुलना में यहाँ रसों की संख्या अधिक चाहे हो किन्तु उनका विस्तार अत्यंत सीमित है क्योंकि सबके विषय कृष्ण हैं। सभी में वही सांप्रदायिक दृष्टि अनुस्यूत होने के कारण ही ऐसा हुआ है।

रस के अवयव—आलम्बन तो सर्वत्र कृष्ण ही हैं। अन्यत्र उद्दीपन, संचारी-भाव और अनुभाव के वर्णन में प्रायः काव्यशास्त्रीय परम्परा को अपना लिया गया है। वसन्तागम, कोकिल-कूजन, मेघ-गर्जन, चाँदनी आदि तथा रूप, लावण्य आदि उद्दीपन विभाव हैं। अनुभावों के अन्तर्गत बाईस अलंकार, सात उद्भास्वैर और तीन अंगज माने गए हैं। भाव, हाव एवं हेला को अंगज अनुभावों में और लीला विलास आदि स्वभावज अनुभाव हैं। विषाद, दैन्य, त्रास आवेग आदि तेंतीस व्यभिचारी भाव माने गए हैं।

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि रस-निष्पत्ति आदि का रूप तो परम्परा के अनुकूल ही है किन्तु रस के स्वरूप के विषय में महान् अन्तर हो गया है। भरत तथा उनके टीकाकारों ने स्थायीभावों का निर्णय लौकिक जीवन के आधार पर किया है। किन्तु रूप गोस्वामी ने उन सब का समाहार भक्ति रस के अन्तर्गत कर दिखाया। यह उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि का ही चमत्कार है, क्योंकि एक भक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आप को पूर्णतया भगवान् के प्रति अर्पित कर दे। उसके सभी विचार, सभी कर्म और सभी भाव आराध्य से ही सम्बद्ध होने चाहिए। जब तक ऐसी स्थिति नहीं आ जाती तब तक किसी भी भक्त को सच्चा भक्त नहीं कहा जा सकता। सभी लौकिक भावों का भक्ति रस में समाहार करने के प्रयास के मूल में यही प्रवृत्ति दिखाई देती है।

विवेचन

किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रयास कहाँ तक ग्राह्य है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए कई ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं जो कि मधुर रस की स्थापना को खण्डित कर देते हैं। वस्तुतः काव्यशास्त्र और भक्ति-शास्त्र का पूर्ण समन्वय सम्भव ही नहीं है। कारण यह है कि काव्यशास्त्र की दृष्टि काव्याश्रित तथा लोकाश्रित होनी चाहिए और मधुर रस की स्थापना करते समय रूप गोस्वामी की दृष्टि न तो काव्याश्रित ही है और न ही लोकाश्रित वरन् वह तो भक्ति के एक सम्प्रदाय-विशेष पर आश्रित है। रूप-गोस्वामी ने रस पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार किया है। जिसका परिणाम

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—२।५।१०२-१०४

यह है कि उनका विवेचन भक्त को भले ही मान्य हो, काव्यशास्त्री को मान्य नहीं हो सकता। साम्प्रदायिक दृष्टि से रस-विवेचन का एक परिणाम यह हुआ कि उस रस की अनुभूति केवल उस सम्प्रदाय के व्यक्तियों तक ही सीमित हो गई। केवल भक्तों को ही मधुर रस की या अन्य रसों की अनुभूति हो सकती है, अभक्त को नहीं। रूप गोस्वामी ने अपनी इस साम्प्रदायिक दृष्टि की स्पष्ट घोषणा की है।[1] किन्तु काव्यशास्त्र के अनुसार रसानुभूति सभी सहृदयों को उपलब्ध हो सकती है—चाहे वे भक्त हों, चाहे अभक्त। मीमांसकादि को तो काव्यशास्त्री भी रसानुभूति के अयोग्य ही ठहराते हैं, किन्तु उन्होंने रसानुभूति को भक्तों तक ही सीमित नहीं किया, वरन् सहृदय मात्र को अधिकारी माना है। भक्त और सहृदय समानार्थक नहीं हैं। कई व्यक्ति ऐसे हैं जो भक्त तो नहीं हैं किन्तु उनकी सहृदयता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। रूपगोस्वामी के मतानुसार उन्हें रसानुभूति नहीं हो सकती तथा भरतादि के मतानुसार वे भी रसास्वाद के अधिकारी हैं। जहाँ भी कहीं शास्त्रीय दृष्टि एवं साम्प्रदायिक दृष्टि में मतभेद या विरोध होगा, वहाँ शास्त्रीय दृष्टि की ही विजय होगी, साम्प्रदायिक दृष्टि की नहीं, क्योंकि शास्त्र की परिधि सम्प्रदाय से अधिक विस्तृत होती है।

रूपगोस्वामी के मत के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि उसको मानने पर साहित्य की सीमाएँ भी अत्यन्त संकुचित हो जाएँगी तथा सूरादि कृष्ण-भक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य किसी को कवि ही नहीं माना जा सकेगा। उदाहरण के लिए इस मत के अनुसार तो प्रसाद कवि ही नहीं सिद्ध होंगे। सिवाय भक्त कवियों के न तो और कोई कवि ही होगा और सिवाय भक्ति-साहित्य के न और कोई साहित्य ही होगा। स्पष्टतः ऐसी स्थिति काव्यशास्त्री को मान्य नहीं हो सकती।

इस मत के विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह है कि स्थायी भाव और रस में कोई अन्तर नहीं रहता। मधुर रति और मधुर रस—दोनों का रूप तत्वतः एक ही हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि जो भक्त के हृदय में उदित हो, वह मधुर भाव और काव्य में वर्णित होने पर वही मधुर रस कहलाने लगता

---

१. का ऽप्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारान् स्वस्वरूपतः ॥
रतिरात्यान्तिकस्थायीभावो भक्त जनेऽखिले ॥
× × ×
जरन्मीमांसकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा ॥
सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः ॥
—रूपगोस्वामी : हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—२।५।३७, ११३

है। किन्तु दोनों में स्वरूपगत अन्तर क्या रहा ? कुछ भी नहीं। सामान्य रूप से भाव और रस में बड़ा अन्तर होता है, जैसे रति और शृङ्गार में या शोक तथा करुण में। रसानुभूति भावानुभूति की अपेक्षा अधिक गम्भीर और उदात्त होती है। किन्तु मधुर रस में भाव और रस दोनों ही एक रूप हैं, उनमें कोई अन्तर ही नहीं रह जाता।

चौथा आक्षेप यह है कि मधुर रस के वर्णन में साधारणीकरण—जो कि रसानुभूति का आधारभूत सिद्धान्त है—नहीं होगा। कारण यह है कि वह एक साम्प्रदायिक अनुभूति है तथा उस सम्प्रदाय के बाहर वाला व्यक्ति उसे उस रूप में ग्रहण ही नहीं कर सकता। जिसे रूपगोस्वामी मधुर रस कहते हैं, शास्त्रीय दृष्टि से वह शृङ्गार रस के अन्तर्गत ही आएगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि रूपगोस्वामी का रस-विवेचन काव्यशास्त्र के रस-विवेचन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। अनुमान है कि उक्त विवेचन के मूल में रूपगोस्वामी का यह उद्देश्य भी नहीं रहा होगा। जहाँ तक साम्प्रदायिक रूप में उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न है, उसे उसी रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। किन्तु आज के बुद्धिवादी युग में इस प्रकार का विवेचन कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। इसकी एकमात्र ऐतिहासिक उपयोगिता ही समझनी चाहिए।

नैतिक पक्ष—मधुर रस के सैद्धान्तिक एवं सांप्रदायिक रूप का विवेचन करने के उपरान्त उसके नैतिक पक्ष का विवेचन भी आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि पहले कहा गया है, इस मत में मधुर भाव सर्वश्रेष्ठ है और उसमें भी परकीया भाव सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वैकुण्ठ में स्थित नारायण की सेवा तो श्री आदि पति भाव से करती हैं, किन्तु उससे ऊपर स्थित गोलोक के स्वामी कृष्ण की प्रियाएँ गोपियाँ परकीया नायिकाएँ ही हैं। और उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ माना है। परकीया प्रेम की श्रेष्ठता दिखाने के लिए यह तर्क दिया गया है कि परकीया अप्राप्य होती है और इसलिए नायक का हृदय उसकी प्राप्ति के लिए अधिक व्यग्र होता है।[1] और उधर परकीया भी अपने सभी बन्धनों एवं

---

१. ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी में पतिभाव से और व्रजपुरी में उपपति भाव से लीला करते हैं। सकल व्रजवासिनी ललना व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परकीया हैं। कारण कि परकीया के अतिरिक्त मधुर रस का अत्यंत उत्कृष्ट विकास हो नहीं सकता। थोड़ा इसे विस्तार से समझना आवश्यक प्रतीत होता है। स्त्रियों में जो वामता, दुर्लभता निबन्धन-निवारणादि प्रतिबन्धकता है वही कंदर्प का परम अभ्युदय है।

प्रतिबन्धों का तिरस्कार कर उपपति के प्रति अधिक गंभीर रूप में आसक्त होती है। इसीलिए वैष्णवों ने परकीया का महत्व माना है।

उपर्युक्त स्थापना का मूल्यांकन भी दो दृष्टियों से किया जा सकता है। एक तो सांप्रदायिक दृष्टि से, रूप गोस्वामी की दृष्टि से, जो उसे सभी दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। द्वितीय व्यापक शास्त्रीय दृष्टि से और वही दृष्टि अधिक काम्य भी है। इस दृष्टि से विवेचन करने पर यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि नैतिक दृष्टि से यह भावना सर्वथा त्याज्य है। इससे समाज के धर्म का, जीवन के आधारभूत पति-पत्नी के मर्यादापूर्ण संबंध का, आधार ही नष्ट हो जाता है। यदि भक्ति के क्षेत्र में परकीया भाव उत्कृष्ट है तो लौकिक जीवन में क्यों नहीं मान लेना चाहिए? स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन की व्यवस्था और विकास इस प्रकार की सांप्रदायिक ह्रासोन्मुखी भावनाओं द्वारा खंडित एवं अवरुद्ध होगा और इसलिए नैतिक दृष्टि से यह स्थापना हानिकारक ही है।

जहाँ निषेध विशेष है और ललना दुर्लभ है, वहीं नागर का हृदय अतिशय आसक्त होता है। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण गोप हैं। वे गोप भाव के सिवा किसी से रमण नहीं करते। गोपियाँ जिस भाव से श्रीकृष्ण की भजन-सेवा करती थीं, शृंगार रसाधिकारी साधक भी उसी भाव से कृष्ण का भजन करते हैं।

—भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' : **रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० २७**

नवम् अध्याय

रस एवं औचित्य सिद्धान्त

पीछे के विवेचन में रस के सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। उससे आगे बढ़कर जब काव्य में विविध रसों की परीक्षा करते हैं तो कुछ अन्य महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आते हैं जो नैतिक दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उसका कारण यह है कि व्यक्ति की स्थायी चित्तवृत्तियों को ही काव्य में स्थायी भाव के रूप में ग्रहण किया गया है। काव्य का श्रवण या दर्शन आदि करने से व्यक्ति के भावात्मक जीवन पर निश्चित प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति के जीवन का भाव-पक्ष उसके निजी एवं सामाजिक प्रगति की धुरी है। इस दृष्टि से विचारों का इतना महत्व नहीं है जितना भावों या अनुभूति का है। इस सत्य को आज के प्रायः सभी चिन्तक स्वीकार करते हैं और प्राचीन भारतीय चिन्तन में तो इसका मूलभूत स्थान है। कबीर दास ने प्रेम के ढाई अक्षर को पढ़ने वाले व्यक्ति को ही पंडित कह दिया, इसका कारण यही सत्य है। शुष्क ज्ञान मनुष्य के लिए भार स्वरूप होता है। उसे हारस्वरूप बनाने के लिए उसमें भाव का, अनुभूति का योग आवश्यक है। और यह तभी संभव हो सकता है जब कि व्यक्ति का भावात्मक जीवन सन्तुलित एवं स्वस्थ हो। रस की आत्माभाव होने के कारण सत्काव्य व्यक्ति को यह सन्तुलन और स्वास्थ्य सहज ही प्रदान कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्ति एवं समाज का नैतिक जीवन इसी भावात्मक सामरस्य और शक्ति पर आधारित है।

शृंगारादि प्रत्येक रस की अनुभूति से व्यक्ति के भावात्मक जीवन का परिमार्जन और परिष्कार होता है। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' तथा 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' के द्वारा काव्य के भावात्मक पक्ष के उत्कर्ष का ही संकेत मिलता है। शृंगार के सरस वर्णन पढ़कर व्यक्ति की रति-भावना समुचित रूप से विकसित एवं प्रफुल्लित होती है। इसी प्रकार वीर, शान्त एवं भक्ति रस की रचनाओं के श्रवणादि से मानव मन जिस उदात्त भाव-भूमि को प्राप्त होता है वह उसके व्यक्तिगत जीवन को सात्विक एवं सामाजिक जीवन को मंगलकारी बनाने की सशक्त स्फूर्ति प्रदान करती है। वीरादि तीनों रस तो उत्तम प्रकृति के पुरुषों में ही पाए जाते हैं।[1] राम एवं ध्रुव आदि के चरित्र के श्रवणादि से सामाजिक का नैतिक जीवन गंभीर रूप से प्रभावित होता है तथा उसकी चेतना पावन एवं दृष्टि मंगलमय हो जाती है। इसी प्रकार वात्सल्य, करुण, एवं रौद्र रस वाली रचनाएँ भी मनुष्य के भावों को सहज रूप से उद्‌बुद्ध कर देती हैं तथा सृष्टि में जो उसके विविध सम्बन्ध हैं उन्हें उचित रूप से दृढ़ बनाती हैं।[२]

आज का जीवन औद्योगीकरण एवं तज्जन्य विषमताओं से आकुल हो उठा है। इस भौतिक समृद्धि की जटिलताओं ने मनुष्य के मानसिक जीवन को भी ग्रन्थिल बना दिया है, जिसके फलस्वरूप आज के व्यक्ति का मानसिक जीवन दुर्बल एवं दरिद्र होता जा रहा है। वे मानसिक ग्रंथियाँ एवं विकृतियाँ व्यक्ति को सहज ही विचलित कर अनाचार की ओर धकेल देती हैं। यदि कोई व्यक्ति उन्हें सहन कर भी ले, तो भी उसके जीवन में कृत्रिमता और ढोंग का संचार

---

१. उत्तम प्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्र देवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः॥
शान्तः शमस्थायिभाव उत्तम प्रकृतिर्मतः॥
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः।
—विश्वनाथ : सा० दर्प०—३।२३२, २४५, २४६

२. इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है, जबकि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाये।
—रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (भाग १)—पृ० १४१, १४२

होने लगता है। यह सब परिणाम व्यक्तिगत या सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से हानिकारक हैं, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में काव्य ही एकमात्र ऐसा साधन है जो समाज को भावात्मक सन्तुलन प्रदान कर सकता है। दुर्भाग्यवश आज का काव्य भी उन्हीं ग्रंथियों और विकृतियों का शिकार होता हुआ प्रतीत होता है जिनमें व्यक्ति का जीवन ग्रस्त है। किन्तु आज से सैकड़ों वर्ष पहले का जीवन आज की अपेक्षा अधिक सहज और सरल था तथा काव्य-दृष्टि भी सहज थी। इसीलिए जब भारतीय काव्यशास्त्र का निर्माण आरंभ हुआ तो उसमें आरंभ से ही रस के औचित्य की ओर आचार्यों का ध्यान गया क्योंकि औचित्यपूर्ण रचनाएँ ही जीवन को विकसित करने में समर्थ हैं। कवि अनुकूल प्रभाव वाली रचनाओं का निर्माण करें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए काव्यशास्त्रियों ने द्विविध प्रयास किया। प्रथम उन्होंने शृंगारादि विविध रसों के अनुचित रूप का विश्लेषण किया। द्वितीय तत्पश्चात् उन्होंने उस अनौचित्य से काव्य की रक्षा के साधनों का उल्लेख किया। प्रथम प्रयास के अन्तर्गत रसाभास, भावाभास तथा रस-दोषों का विवेचन किया गया और द्वितीय प्रयास के अन्तर्गत औचित्य-सिद्धान्त की स्थापना की गई। रसाभास आदि के विवेचन में उन्होंने रस के उचित एवं अनुचित दोनों स्वरूपों की चर्चा करके अपना मन्तव्य स्पष्ट किया।

रसाभास—जैसा कि नाम से स्पष्ट है, रसाभास वहाँ माना जाएगा जहाँ रस का पूर्ण परिपाक न हो वरन् उसका आभास मात्र मिले। उदाहरण के लिए शृङ्गार रस वहाँ होता है जहाँ नायक परस्त्री अथवा अनुराग हीना वेश्या के अतिरिक्त अन्य नायिकाओं के प्रति रति भाव व्यंजित करता।[1] यहाँ स्पष्टतः नैतिक दृष्टि ही कार्यशील है। क्योंकि यदि किसी नायक का परस्त्री प्रेम व्यंजित किया जाय तो इससे सामाजिक की नैतिक भावना पुष्ट होने की बजाए क्षुब्ध ही होगी। उसकी नैतिक आस्था जिसे जीवन में अनाचार घोषित करती है, उसे साहित्य में स्वीकार करने के लिए कभी तैयार नहीं होगी। ऐसी अवस्था में परस्त्री प्रेम के पदों के श्रवणादि से पहले तो रतिभाव का आंशिक जागरण हो सकता है किन्तु अन्ततः कवि के प्रति, उस नायक के प्रति एवं उस स्त्री के प्रति आक्रोश ही होगा। इसी प्रकार देवादि विषया रति का वर्णन भी शृङ्गाराभास ही कहलाएगा। कालिदास ने कुमार संभव में जो शिव और पार्वती के संभोग का

---

१. **परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम्।**
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः॥
—विश्वनाथ : सा० दर्प०, पृ० १०६

वर्णन किया है वहाँ शृङ्गाररस नहीं, शृंगार रस का आभास मात्र ही मानना चाहिये। यहाँ उस विषम प्रतीति का कारण भी सामाजिक की धार्मिक भावना है जो अपने आराध्य के ऐसे नग्न वर्णन पढ़कर क्षुब्ध हो जाती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में शृङ्गाराभास मानना कहाँ तक उचित है? क्योंकि दोनों ही उदाहरणों में सामाजिक को तो न तो शृङ्गार की अनुभूति होती है न उसके आभास की ही। वरन् उसको तो एक भिन्न ही भाव—क्षोभ, क्रोधादि का अनुभव होता है। फिर उसे शृङ्गाराभास की रचना कहना कहाँ तक उचित है?

इसका उत्तर यह है कि ऐसे उदाहरणों को काव्यशास्त्रज्ञ शास्त्रीय दृष्टि से ही देखता है न कि सामाजिक की दृष्टि से। इसका कारण भी है, और वह यह कि एक ही रचना के प्रति विविध सामाजिकों में विभिन्न मिलती-जुलती प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। ऐसी अवस्था में किस सामाजिक की अनुभूति के आधार पर उपर्युक्त उदाहरणों की अनुभूतियों का नामकरण किया जाए? शास्त्रीय दृष्टि से देखने पर उसमें शृङ्गार रस के सभी अवयव विद्यमान हैं। इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से उन्हें शृङ्गार रस का उदाहरण कहा जा सकता है। मगर वहाँ शृङ्गार रस की अनुभूति तो होती ही नहीं। इसलिए वहाँ शृङ्गार रस न मानकर उसका आभास माना जाता है। उन उदाहरणों में शृङ्गार रस का आभास मात्र होता है, वस्तुतः अनुभूति तो कोई और ही होती है।

प्राचीन काव्यशास्त्रियों में इस विषय पर दो मत मिलते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि रस तथा रसाभास एवं भाव तथा भावाभास समान ही स्तर के नहीं हैं, क्योंकि रस या भाव वह है जहाँ निर्मलता हो या अनौचित्य का अभाव हो। जहाँ अनौचित्य आ जाए वहाँ वे रसाभास या भावाभास माने जाते हैं। इसके उदाहरण स्वरूप वे न्याय के हेत्वाभास को प्रस्तुत करते हैं। नैयायिक हेतु—वास्तविक कारण जैसे अग्नि के अनुमान का धुँआँ, तथा हेत्वाभास—जैसे धुँए के समान दिखाई देने वाला कुहरा—एक ही स्तर के नहीं हैं। अतः रस तथा रसाभास और भाव तथा भावाभास भिन्न-भिन्न हैं।[1]

दूसरा मत यह है कि अनौचित्य के कारण रस और रसाभास में कोई मूलभूत अन्तर नहीं होता। जैसे किसी दोषयुक्त अश्व को अश्वाभास कह दिया

---

१. तत्र 'रसाद्याभासत्वं' रसत्वादिना न समानाधिकरणम्,
निर्मलस्यैव रसादित्वात्, हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन' इत्येके।

—जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ० ३३७

जाता है।[1] यहाँ अश्व और अश्वाभास में मूलभूत अन्तर नहीं, थोड़ा ही अन्तर है।

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वाह्य शास्त्रीय दृष्टि से तो दूसरी बात ठीक प्रतीत होती है किन्तु आन्तरिक अनुभूति की दृष्टि से पहली बात। ऐसे उदाहरणों में जो शृङ्गाराभास या भावाभास आदि कहा जाता है वह शास्त्रीय दृष्टि से ही, अनुभूति की दृष्टि से नहीं।

उन उदाहरणों में जहाँ स्त्री का पर-पुरुष से प्रेम न वर्णित हो, स्त्री का बहु-पति विषयक प्रेम प्रकाशित हो, निष्प्राण वस्तुओं—पर्वत छायादि में रति का आरोप किया जाए, एकांगी रति की व्यंजना हो, नीच पात्र में किसी उच्चकुल के पात्र का प्रेम व्यक्त किया जाए या पशु-पक्षी आदि की अभिव्यक्ति हो, वहाँ भी शृङ्गाराभास ही होगा, शृङ्गार रस नहीं। प्रथम, द्वितीय तथा पंचम उदाहरणों में रसाभास का कारण है नैतिक भावना। अन्य उदाहरणों में मनोवैज्ञानिक कारण हैं। द्वितीय उदाहरण के सम्बन्ध में द्रौपदी के उदाहरण को लेकर विवाद प्रस्तुत किया गया है। इसका विवेचन करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने यह कहा है कि प्राचीनों के मत में नायिका की अनेक नायक-निष्ठ रति तभी रसाभास मानी जाएगी, जब उसका उनके साथ विधिवत् पाणिग्रहण न हुआ हो।[2] यहाँ 'प्राचीनों के मत में', से स्पष्ट है कि नवीनों का मत भिन्न है और वे द्रौपदी के प्रेम को भी शृङ्गाराभास के अन्तर्गत मानेंगे। वस्तुतः इस विवाद का रहस्य नैतिक भावना में है जो सामाजिक विकास के साथ विकसित होती चली जाती है। महाभारत के युग में एक स्त्री के पाँच पति होना कोई अनुचित बात नहीं समझी जाती थी और वह तत्कालीन सामाजिक नैतिकता के अनुकूल थी। किन्तु आज के युग में एक स्त्री के एकाधिक पति होना सर्वथा अनैतिक है क्योंकि आज का समाज इसे सहन नहीं कर सकता। काव्यशास्त्रियों ने इस नैतिक दृष्टि का विवेचन नहीं किया, इसीलिए वे उपर्युक्त समस्या का उचित समाधान नहीं कर सके। अश्लीलत्व दोष का आधार भी नैतिक भावना ही है।[3]

---

१. **'नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपितु सदोषत्वादाभासव्यवहारः। अश्वाभासादिव्यवहारवत्। इत्यपरे।** —जगन्नाथ : **रसगङ्गाधर,** पृ० ३३७

२. **पाञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः।**

—वही, पृ० ३४२

३. **सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः।**

—विश्वनाथ : सा० **दर्प०,** ७।१७

जिस प्रकार अनौचित्य के कारण शृङ्गार रस में रसाभास होता है उसी प्रकार अन्य रसों में भी देखा जाता है।[1] जैसे—

१—करुण रस— कलहशील पुत्र से सम्बद्ध करुण रस रसाभास के अन्तर्गत ही आएगा। उदाहरण के लिए राक्षसों के मरने पर उनकी पत्नियों या माताओं के विलाप में करुण रस का आभास मात्र होगा। इसका नैतिक कारण है। सहृदय तो राक्षसों की मृत्यु पर सन्तोष का अनुभव करते हैं क्योंकि उनके अनाचार ने नैतिक भावनाओं को विकृत एवं सामाजिक जीवन को विषाक्त कर रखा था। उनका जीवन सहृदय की नैतिक भावना को ठेस पहुँचाने के कारण दुःखदायी और मृत्यु सुखदायी होती है।

इसी प्रकार यदि किसी विरक्त पुरुष के आश्रय में करुण रस का वर्णन होगा तो वह भी करुणरसाभास होगा। इसका कारण भी सामाजिक भावना है। विरक्त पुरुष दुःख-सुख से ऊपर उठ जाता है, ऐसा सामाजिक विश्वास है। इसलिए उसमें दुःख का चित्रण होने पर इस सामाजिक विश्वास पर आघात होता है और सामाजिक को रसानुभूति नहीं होती।

२—शान्त रसाभास—यदि शान्तरस का वर्णन चाण्डालादि के आश्रय में वर्णित हो तो वह रसाभास की कोटि में आएगा। कारण यह है कि चाण्डालादि को वेद या शास्त्र पढ़ने का अधिकार ही नहीं और विद्या-अध्ययन के अभाव में निर्वेद की जागृति हो ही नहीं सकती। वस्तुतः इसका आधार भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में ही मिलेगा। उस काल में शूद्रवर्ण को विद्या-अध्ययन का अधिकार प्राप्त नहीं था। यदि कहीं कोई शूद्र अध्ययन करता भी था तो वह पाप समझा जाता था और उस पाप का उत्तरदायित्व राजा पर होता था तथा उसका फल सारे समाज को भोगना पड़ता था। किन्तु आज सामाजिक व्यवस्था बदल गई है और शूद्रों को भी सभी के समान अधिकार प्राप्त हो गए हैं। इसलिए यदि आज का कोई साहित्यकार किसी शूद्र में निर्वेद भाव की स्थिति का वर्णन करे तो वहाँ रसाभास नहीं होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि युग-परिवर्तन के साथ सामाजिक व्यवस्था और नैतिक भावना में भी विकास

---

१. **एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारचाण्डालदिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्य-कातरादिगतत्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वाक्रोधोत्साहौ, ऐन्द्रजालिकाद्यालंबनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालंबनत्वेन च हातः, महावीरगतत्वेन भयम्, यज्ञीयपशुवसाऽसृङ्मांसाद्यालंबनतया वर्ण्य-माना जुगुप्सा च रसाभासाः।**

—जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ० ३८४

होता जाता है तथा जो एक युग में अनुचित है वही दूसरे युग में उचित है, तथा जो एक युग में उचित है वही आगे चलकर अनुचित हो जाता है'।

३—**रौद्र रसाभास**—यदि किसी दीन या कायर व्यक्ति में क्रोध की स्थिति का वर्णन किया जाए, अथवा पिता आदि के प्रति क्रोध का वर्णन किया जाए तो वहाँ रसाभास होगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई अनाचारी पात्र—रावणादि किसी सदाचारी पात्र—रामादि के प्रति क्रोध का प्रदर्शन करे तो यह स्थिति भी रसाभास की कोटि में ही आएगी। इन तीनों में से प्रथम का आधार तो मनोवैज्ञानिक है क्योंकि कोई दीन या कायर व्यक्ति क्रोध कर ही नहीं सकता। बाद की दोनों स्थितियाँ नैतिक आधार के कारण रसाभास के अन्तर्गत आएँगी। पिता के प्रति आदर भाव तथा पूज्य बुद्धि रखना यह एक सामान्य नैतिक सिद्धान्त है। यदि पिता के प्रति क्रोध का प्रदर्शन होता है तो सामाजिक की नैतिक भावना को ठेस लगती है और इसलिए रसाभास की स्थिति आ जाती है। तृतीय स्थिति का विवेचन साधारणीकरण की समीक्षा के अन्तर्गत किया जा चुका है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसी स्थिति में मध्यम कोटि की रसानुभूति मानी है, मगर वस्तुतः उसकी गणना रसाभास के अन्तर्गत होनी चाहिए।

४—**वीर रसाभास**—जिस प्रकार रौद्र में उसी प्रकार यहाँ भी यदि किसी दीन या कायर पात्र में उत्साह की स्थिति का वर्णन किया जाएगा, अथवा पितादि के प्रति उत्साह भाव प्रदर्शित होगा, अथवा कोई अनाचारी पात्र—रावणादि–किसी सदाचारी पात्र–रामादि–के प्रति वीर भाव का प्रदर्शन करेगा तो वहाँ वीर रसाभास माना जाएगा। इन तीनों स्थितियों के मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक आधार वे ही हैं जिनकी चर्चा रौद्र रसाभास के अन्तर्गत की जा चुकी है।

५—**अद्‌भूत रसाभास**·यदि कहीं विस्मय का वर्णन ऐन्द्रजालिक के प्रति किया जाए तो वहाँ अद्‌भुत रसाभास होगा। इसका मनोवैज्ञानिक कारण है। सभी सामाजिक जानते हैं कि ऐन्द्रजालिक का प्रदर्शन मिथ्या होता है, यथार्थ नहीं, इसलिए यहाँ रस का परिपाक नहीं होगा।

६—**हास्य रसाभास**—यदि कहीं हास का वर्णन गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों के प्रति व्यक्त किया गया हो तो वहाँ हास्य रसाभास होगा। इसका कारण भी नैतिक ही है। गुरुजनों का आदर करना एक मूलभूत नीति-सिद्धान्त है। अत-एव यदि उनका उपहासादि किया जाएगा, तो ऐसे वर्णन को पढ़कर सामाजिक की नैतिक भावना बाधित हो जाएगी और उसकी चेतना उस वर्णन में तल्लीन न होकर आश्रय के प्रति किसी अन्य भाव से ही भर जाएगी।

७—**भयानक रसाभास**—यदि किसी परमवीर व्यक्ति में भय का वर्णन किया जाएगा, तो वहाँ भयानक रसाभास होगा क्योंकि ऐसा वर्णन लोक-विरुद्ध होगा और लोक-भावना को ग्राह्य नहीं होगा।

८—**बीभत्स रसाभास**—यदि किसी यज्ञीय पशु के मांस आदि के वर्णन में जुगुप्सा का प्रदर्शन किया जाएगा तो वहाँ बीभत्स रसाभास ही होगा। इसका कारण भी नैतिक एवं धार्मिक है। यज्ञीय पशु घृणा का आलम्बन नहीं, वरन् निष्ठा और श्रद्धा का प्रतीक है। अतः जो निष्ठा का प्रतीक है उसे यदि जुगुप्सा का आलम्बन बना दिया जाएगा तो रसानुभूति कैसे हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन में रसाभासों की चर्चा की गई है। इसी प्रकार यदि भाव के आलम्बन अथवा विषय अनुचित होंगे, तो वहाँ भी उसी प्रकार भाव-भास माना जाएगा।[1]

औचित्य सिद्धान्त

रसाभास के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ कहीं भी विभावादि में अनौचित्य होगा, वहीं रसानुभूति खंडित हो जाएगी। अतएव सिद्धान्त यह निकला कि अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का अन्य कोई कारण ही नहीं है तथा रस का परम रहस्य है प्रसिद्ध औचित्य का निरूपण।[2] क्षेमेन्द्र तो औचित्य-विचार-चर्चा में औचित्य को ही काव्य का स्थायी जीवन मानते हैं।[3] प्रायः रस को काव्य की आत्मा माना जाता है किन्तु रस-सृष्टि में भी कवि को औचित्य का ध्यान रखना पड़ता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि औचित्य ही काव्य की आत्मा है। कारण यह है कि काव्य की आत्मा का निर्धारण करते हुए हमें काव्य के स्वरूप का ध्यान रखना होगा। औचित्य तो एक ऐसा सिद्धान्त है जो काव्य और जीवन—दोनों की सुरम्यता के लिए आवश्यक है। यदि हम दोनों की सफलता का आधार औचित्य को ही मानें, तो फिर दोनों में अन्तर क्या रहा? इसके विपरीत रस एक ऐसा तत्व है जो केवल काव्य में ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। इसलिए रस को काव्य की आत्मा मानना ही अधिक

---

१. **एवमेवानुचितविषया भावाभासाः।**

—जगन्नाथ। **रस गंगाधर**, पृ० ३४५

२. **अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।**
प्रसिद्धौचित्यनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

—आनन्दवर्धन : **ध्वन्यालोक**, पृ० २५६

३. **औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।**

—क्षेमेन्द्र : **औचित्य-विचार-चर्चा** [illegible]

समीचीन है। यदि कोई यह कहे कि रसानुभूति का आधार तो औचित्य ही है अतः औचित्य रस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए औचित्य को काव्य की आत्मा मानना चाहिए। किन्तु यह तर्क भी भ्रान्त ही है। क्योंकि यदि इसी तर्क को और आगे बढ़ाकर यह प्रश्न करें कि औचित्य का आधार क्या है? स्पष्टतः उसके आधारों में नैतिक भावना ही प्रमुख है। तो क्या नैतिक भावना को काव्य की आत्मा माना जाए? और आगे चलिए। नैतिक भावना का आधार क्या है? सामाजिक व्यवस्था। तो फिर सामाजिक व्यवस्था को ही काव्य की आत्मा क्यों न माना जाए? अतः काव्य में रस के महत्त्व को औचित्य सिद्धान्त डिगा नहीं सकता। किन्तु फिर भी इससे काव्य में औचित्य की महत्ता की कोई हानि नहीं होती।

औचित्य के दो आधार : लोक और शास्त्र

जब हम काव्य के क्षेत्र में औचित्य की चर्चा करते हैं, तो उसके दो पक्ष स्पष्ट लक्षित होते हैं—(१) बाह्य औचित्य जिसका सम्बन्ध कलापक्ष के साथ है; (२) आन्तरिक औचित्य जिसका सम्बन्ध भावपक्ष एवं विषय-वस्तु के साथ है। कलापक्ष के औचित्य के अभाव में श्रुतिकटु आदि कई दोषों का जन्म हो जाता है। उनका विवेचन प्रस्तुत प्रयास की सीमा से बाहर है। आन्तरिक पक्ष के औचित्य के अन्तर्गत भाव और विषय का औचित्य आता है। यही हमारा विषय है। पीछे उद्धृत विविध रसाभासों के उदाहरणों से स्पष्ट है कि किस प्रकार भाव या विषय के अनौचित्य से रस की हानि होती है।

भावपक्ष के औचित्य के अन्तर्गत चार[1] प्रकार के औचित्य की चर्चा की गई है :

१—विभावों का औचित्य,

२—भावों का औचित्य,

३—अनुभावों का औचित्य, और

४—व्यभिचारी भावों का औचित्य।

विभावों तथा अनुभावों के औचित्य के सम्बन्ध में इतना ही कह दिया गया है कि वे लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध हैं।[2] रस गंगाधरकार ने विभाव के अनौचित्य

---

१. **विभाव–भावानुभाव–सञ्चार्यौचित्य-चारुणः।**
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा।
—आनन्दवर्धन : **ध्वन्यालोक**, ३।१०

२. **तत्र विभावौचित्यं तावत् प्रसिद्धम्।···** —वही, पृ० २५८
अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव —वही, पृ० २६२

के ज्ञान के लिए लोक को ही प्रमाण माना है ।[1] इस प्रकार औचित्य के ज्ञान के दो आधार सिद्ध हुए। प्रथम-लोक, दूसरा शास्त्र। आनन्दवर्धन ने विभावादि के वर्णन के प्रसंग में काव्यशास्त्र एवं काव्य को ही प्रधानता दी है और कहा है कि कवि को चाहिए कि वह भरतादि के शास्त्र का अनुसरण, प्रसिद्ध काव्यों का पर्यालोचन तथा अपनी प्रतिभा का अनुगमन करता हुआ अपने काव्य की रचना में अनौचित्य का बहिष्कार करे ।[2]

यद्यपि आनन्दवर्धन ने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और भाव—सभी के अनौचित्य की चर्चा की है, पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी सूक्ष्म प्रतिभा के अनुरूप ही इस विषय में भी एक रोचक प्रश्न उठाया है। कुछ लोगों का मत यह है कि यदि विभावादि का ही औचित्य माना जाए, तो एक समस्या उत्पन्न होती है, और वह यह है कि ऐसी अवस्था में मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि को रति के विभाव के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि लोक-बुद्धि उन्हें रति का आलम्बन मानने को प्रस्तुत नहीं। किन्तु यदि एक स्त्री की रति अनेक नायकों में हो तो वे नायक अपनी-अपनी जगह रति के उचित आलम्बन हैं। अतः उन्हें लोकबुद्धि रति के आलम्बन के रूप में स्वीकार करती है। इसलिए केवल यह कहना कि-"विभावादि के अनौचित्य का आधार लोकबुद्धि है", पर्याप्त नहीं है। और वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास ही होगा। इसलिए 'अनौचित्य' शब्द विभाव के साथ नहीं, रति के साथ लगाना चाहिए और कहना चाहिए कि "जिस रत्यादि भाव को लोग अनुचित समझते हों उनका वर्णन करने पर रसाभास होगा।"[3] इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने विभाव के

---

१. **विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम् ।**

—पंडितराज जगन्नाथ : **रस गंगाधर**, पृ० ३३६

२. **भरतादिविरचितानां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकवि-प्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनाऽवहित चेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्य-भ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः ।**

—आनन्दवर्धन : **ध्वन्यालोक**, पृ० २६३

३. **विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् 'अनुचितम्' इतिधीरिति केचित् । तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयक-रत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषया या या अनुभय-निष्ठायाश्च रतेरसङ्ग्रहात् । तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात् । तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः । इत्थं चानुचितिविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च-सङ्ग्रह इति ।**

—जगन्नाथ : **रस गंगाधर**, पृ० ३३६

अनौचित्य में तथा भाव के अनौचित्य मे लोक को ही प्रमाण माना है किन्तु शास्त्र की भी अवहेलना नहीं की।

आनन्दवर्धन ने रत्यादि भावों के औचित्य की चर्चा में लोक से उदाहरण भी दिए हैं। उनके अनुसार लोक में मानव प्रकृति तीन प्रकार की है—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम प्रकृति दैवी प्रकृति है, मध्यम मानुषी प्रकृति है और अधम भी पतित मनुष्यों की ही प्रकृति है। काव्य में वर्णन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि काव्य-वर्णित पात्रों की प्रकृति के अनुकूल ही उनमें सामर्थ्यादि दिखाई जाए। दैवी प्रकृति के कार्य मानुषी में और मानुषी प्रकृति के कार्य दैवी प्रकृति में नहीं दिखाए जाने चाहिए। यदि किसी राजा में समुद्रलंघनादि दैवी व्यापार दिखाए जायेंगे तो वहाँ रसाभास ही होगा, रस नहीं। हाँ, जिन पौराणिक पात्रों में इस प्रकार के व्यापार पहले से ही वर्णित हैं तथा जिनको लोक-रुचि ने ग्रहण कर लिया है, उनका वर्णन किया जा सकता है। इसीलिए भरतमुनि ने लोक विख्यात कथा को स्वीकार्य माना है। जहाँ कवि कल्पित कथा को ग्रहण करता है, वहाँ उसे औचित्य की रक्षा में विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। यहाँ औचित्य की रक्षा करने का एक ही उपाय है—जिस प्रकृति का पात्र है, उसके अनुकूल गुणों का प्रदर्शन उसमें किया जाए।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर औचित्य सिद्धान्त का महत्व स्पष्ट हो जाता है। फिर भी आश्चर्य होता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में क्षेमेन्द्र और आनन्दवर्धन के अतिरिक्त किसी ने भी इसको अपेक्षित महत्व प्रदान नहीं किया। मम्मट तथा विश्वनाथ ने केवल एक-एक वाक्य में ही उसकी चर्चा कर छोड़ दिया है। इस उपेक्षा के दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला तो यह कि सभी काव्यशास्त्री प्रधानतः परम्परावादी थे और इसलिए कुछेक विषयों को छोड़कर शेष विषयों का सामान्य उल्लेख करके छोड़ देते थे। औचित्य के विषय में

---

१. **भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्हि, उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्य-मानुषादिभावेन च विभेदिनी। तां यथायथमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायीभाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग्भवति। अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य, केवल दिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्य, उत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादि-लक्षणाव्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति। तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः।**

—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, पृ० २५८

केवल इतना संकेत भर कर देना पर्याप्त समझते थे कि भरतादि प्राचीन काव्य-शास्त्रियों का अनुसरण करने से अनौचित्य से बचा जा सकता है। दूसरा कारण उनकी विवेचन-शैली और विवेचन-दृष्टि है जो कुछ बँधी सीमाओं से परे जा ही नहीं सकती थी। औचित्य सिद्धान्त में इस बात के लिए पर्याप्त अवकाश था कि वे लोक और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध की मीमांसा करते हुए काव्य के सामाजिक आधार के सम्बन्ध में अपना मत स्थिर करें। स्पष्टतः ऐसा कार्य तभी सिद्ध हो सकता था जब कि कोई समीक्षक स्वच्छंद दृष्टि से काम लेकर काव्य-शास्त्र की उन सीमाओं के बंधनों को तोड़ डाले। किन्तु ऐसा किसी भी काव्य-शास्त्री ने नहीं किया। आगे चलकर हिन्दी की आलोचना परम्परा में भी इसकी वैसी ही उपेक्षा हुई जैसी कि संस्कृत के अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने की। हिन्दी की आलोचना रस में उलझ कर रह गई। फिर विकास के साथ-साथ रीति, वक्रोक्ति, अलंकारादि की विस्तृत समीक्षाएँ भी होने लगीं। किन्तु औचित्य पूर्णतया उपेक्षित ही रहा। इसकी समीक्षा के अन्तर्गत वर्त्तमान आलो-चना जगत की कई मूलभूत समस्याएँ—कला और लोक का सम्बन्ध आदि—आ जाती हैं। अतएव इस सिद्धान्त की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

जैसा कि पहले कहा गया है, औचित्य सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्यशास्त्र और समाज, काव्य-दृष्टि और लोक-दृष्टि दोनों का समन्वय प्रतीत होता है क्योंकि वह इन दोनों दृढ़ आधारों पर खड़ा है। कहीं-कहीं तो औचित्य की रक्षा के लिए शास्त्र का सहारा लिया जाता है और कहीं लोक का। किन्तु प्रधानता शास्त्रीय दृष्टि को ही मिली, लोक-दृष्टि को नहीं। यही कारण है कि औचित्य के मूल में प्रवल नैतिक भावना के विद्यमान होते हुए भी उसका उद्‌घाटन आज तक किसी ने नहीं किया। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों के सामने नैतिक या सामाजिक चेतना का कोई मूल्य ही नहीं था। प्रायः यह कहा जाता है कि संस्कृत का काव्यशास्त्र आदर्शवादी रहा है। किन्तु उसमें लौकिक यथार्थ दृष्टि भी विद्यमान थी, इसका ज्ञान हमें औचित्य सिद्धान्त के अध्ययन से ही होता है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो औचित्य के दोनों आधार—शास्त्र और लोक—परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं। कारण यह है कि काव्य का निर्माण शून्य में तो होता नहीं। उसके युग की यथार्थ सामाजिक स्थिति उसके स्वरूप एवं विषय को पूरी तरह से प्रभावित करती है। और काव्यशास्त्र का आधार है काव्य। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से काव्यशास्त्र का और लोक का भी सम्बन्ध स्थापित होता है। यह तो हुई शास्त्र और लोक के अप्रत्यक्ष सम्बन्ध की बात। इसके अतिरिक्त शास्त्र प्रत्यक्ष रूप से भी लोक से सम्बद्ध होता है। क्योंकि शास्त्र

का निर्माण तो एक युग-विशेष में होता है और फिर उसकी एक परम्परा सी चल पड़ती है। उस परम्परा में जहाँ एक ओर प्राचीनता का मोह रहता है, वहाँ दूसरी ओर नवीनता का आग्रह भी रहता है। किन्तु प्रायः ऐसा होता है कि प्राचीनता का मोह ही अधिक प्रबल होता है और काव्यशास्त्र की परम्परा की रक्षा का शक्तिशाली प्रयास होने लगता है। यह प्रयास नवीनता के आग्रह की अवहेलना करता है और इस प्रकार शास्त्र लोक से असंपृक्त एक रूढ़ि मात्र बन कर रह जाता है। इस रूढ़िवादिता की प्रवृत्ति के अनुकूल ही औचित्य की परीक्षा के लिए प्राचीन शास्त्र की चर्चा प्रायः की जाती रही है।

उपर्युक्त विवेचन में जो नवीनता के आग्रह की चर्चा की गई है, उसका आधार है लोकदृष्टि। कारण यह है कि जैसे-जैसे युग बदलता है, काव्य का स्वरूप भी बदलने लगता है और उसके अनुरूप शास्त्र को भी विकसित-परिष्कृत करने की आवश्यकता का अनुभव होता है। ऐसा होता है कि एक युग का नैतिक आदर्श दूसरे युग में अनैतिक रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसी अवस्था में प्राचीन सामाजिक व्यवस्था और नैतिक आदर्श पर प्रतिष्ठित काव्यशास्त्र की परम्परा एक निर्णय देगी और नवीन युग के अनुरूप निर्मित लौकिक दृष्टि दूसरा। अतः शास्त्र और लोक में विरोध उत्पन्न हो जाता है। इस विवेचन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वही उदाहरण लिया जाता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है— द्रौपदी का पाँच पति-विषयक प्रेम है। यह कहाँ तक उचित है, इसके आज दो उत्तर मिलते हैं। परम्परावादी एवं रूढ़िप्रिय व्यक्ति उसे उचित मानेंगे, और नवीन लौकिक दृष्टि को अपनाने वाले व्यक्ति उसे अनुचित कहेंगे। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस दुविधा की चर्चा की है किन्तु उन्होंने भी दोनों में से किसी एक पक्ष का स्पष्ट खंडन या मण्डन नहीं किया। इसका कारण परम्परावादी प्रवृत्ति ही है। यदि वे इस प्रवृत्ति से इतने आक्रान्त न होते तो निश्चित ही वह अपना निर्णय दूसरे पक्ष में देते जो कि उचित निर्णय होता। वस्तुतः जहाँ कहीं शास्त्र और लोक की दृष्टियों में अन्तर्विरोध हो, वहाँ लोक-दृष्टि को ही प्रमाण मानना चाहिए, शास्त्रीय दृष्टि को नहीं। अतः औचित्य के निर्णय में लोक-भावना ही प्रधान है, शास्त्रीय दृष्टि नहीं।

औचित्य के लोक-पक्ष के विवेचन के अन्तर्गत एक अन्य बात की चर्चा करना आवश्यक है। और वह यह कि लोक का रूप और व्यवस्था परिवर्तशील हैं। जो कल सत्य था वह आज मिथ्या होने लगा है, और जो आज सत्य है वह संभवतः कल मिथ्या हो जाएगा। अतः लोक-प्रवृत्ति के इस परिवर्तन के साथ काव्य का औचित्य-अनौचित्य भी बदलता ही रहेगा। अतः औचित्य सिद्धान्त कोई एक दृढ़ बँधा हुआ सिद्धांत नहीं है, वरन् एक विकासशील सिद्धान्त है।

इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सभी व्यक्तियों की लोक-रुचि एक-सी नहीं होती। उनमें पर्याप्त भेद होता है। इसलिए काव्य के औचित्य के सम्बन्ध में भी आलोचकों के विविध मत हो सकते हैं। जो काव्य एक के लिए उचित है, वही दूसरे के लिए अनुचित भी हो सकता है।

काव्य एवं नैतिकता

औचित्य सिद्धान्त का विवेचन करते हुए यह स्थापना की गई है कि उसका एक अनिवार्य आधार नैतिक धरातल है। विषय की किसी भी प्रकार की अनैतिकता काव्य के आस्वाद को--रसास्वाद को दूषित करने में समर्थ है। अतः इस प्रसंग में काव्य एवं नैतिकता के सम्बन्ध पर व्यापक दृष्टि से विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है।

भारतीय मत

रस-सिद्धान्त से सम्बद्ध विविध मतों एवं रस के स्वरूप आदि के विश्लेषण में उसके दार्शनिक-नैतिक पक्ष का उद्घाटन प्रस्तुत किया गया है। यह तो काव्य एवं नैतिकता के अभिन्न सम्बन्ध का एक पक्ष हुआ जिसे हम काव्य के आस्वाद-पक्ष का नैतिक आधार कह सकते हैं। किन्तु काव्य का आस्वाद या रस काव्य के समग्र विषय से संपृक्त है। अतः काव्य-विषय की उपेक्षा कर इस पक्ष का प्रतिपादन करना भी असंभव है। भारतीय आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए काव्य-विषय की नैतिकता की ओर संकेत किया है। काव्य को चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का साधन माना गया है। स्पष्ट है कि धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति के साधन रूप साहित्य में विषय का वैविध्य एवं पूर्ण औदात्य होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही वह भौतिक उत्कर्ष एवं आध्यात्मिक सफलता का साधन बन सकता है।

मम्मट ने कान्तासम्मित उपदेश को काव्य का एक प्रयोजन माना है। वस्तुतः कान्तासम्मित उपदेश को धर्म और मोक्ष का साधन मानना चाहिए। साहित्य सरस उपदेश द्वारा सामाजिक को धर्म के पथ पर प्रेरित करता है और उस पथ पर निरन्तर अग्रसर होता हुआ व्यक्ति अन्त में मोक्ष का लाभ करता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि साहित्य मोक्ष का साधन कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें वर्तमान दृष्टि के प्रकाश में उक्त मत की समीक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से हम उसके मर्म तक पहुँचने में असमर्थ रहेंगे। आज का व्यक्ति तो नवीन चेतना एवं भौतिक सिद्धियों के प्रकाश में ईश्वर की सत्ता को ही संदेह से देखता है, फिर मोक्ष प्राप्ति की बात

उसे कैसे स्वीकार्य हो सकती है। इसलिए हम प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि के आधार पर ही उक्त मत की समीक्षा करते हुए यह देखने की चेष्टा करेंगे कि साहित्य के प्रयोजन सम्बन्धी वर्तमान मतों के साथ उसका क्या साम्य-वैषम्य है।

जिस युग में धर्म और मोक्ष को साहित्य के प्रयोजनों में स्वीकार किया गया था वह धर्मप्राण युग था—ऐसा युग था जिसमें मोक्ष जीवन का महानतम् मूल्य था—नैतिक दृष्टि से भी और आध्यात्मिक दृष्टि से भी। और क्योंकि धर्म उस मोक्ष तक ले जाने का साधन था इसलिए उसका महत्व भी अपार था। इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि धर्म समग्र जीवन में व्याप्त तत्व था, वह केवल किसी एक विशिष्ट पवित्र स्थान या समय तक ही सीमित नहीं था। वस्तुतः धर्म जीवन के काम्य व्यवहार का पर्याय था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि ऊर्ध्वगामी चेतना की सभी उपलब्धियों को धर्म एवं मोक्ष के साथ सम्बद्ध करके देखा जाता। साहित्य मानव की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है और इसलिए साहित्य को भी धर्म और मोक्ष से सम्बद्ध किया गया।

साहित्य के दो अन्तरंग तत्व हैं—भाव और विचार। भारतीय काव्यशास्त्र में भाव की परिणति रस में हुई और पिछले अध्यायों से यह स्पष्ट है कि रस की अनुभूति मोक्ष की अनुभूति—ब्रह्मानन्द के तुल्य प्रतिष्ठित की गई। यद्यपि हम इससे पूर्णतः सहमत नहीं हैं किन्तु फिर भी रसानुभूति की औदात्य एवं सात्विकता असंदिग्ध है। इस प्रकार साहित्य सामाजिक के हृदय को उद्वेलित कर उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की ओर उन्मुख करता है—उन्मुख ही नहीं, लालायित भी करता है। जहाँ तक साहित्य के दूसरे अन्तरंग तत्व—विचार-तत्व का प्रश्न है, उसे कान्तासम्मित उपदेश के रूप में स्वीकार किया ही गया है।

अब सवाल यह हो सकता है कि आज जब हम न तो धर्म के उस प्राचीन स्वरूप को स्वीकार करते हैं और जब मोक्ष का आदर्श भी संदिग्ध समझा जाने लगा है तो उक्त मत का क्या महत्व है ?

यह सही है कि आज हम धर्म या मोक्ष को साहित्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो उक्त मत के मूल में यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों ने साहित्य को व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के समग्र रूप से सम्बद्ध करके देखा था—अपने युग की संस्कृति के साथ साहित्य के सामंजस्य का प्रयास किया था। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य है; क्योंकि आगे हम यह देखेंगे कि आधुनिक पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्री भी साहित्य को जीवन के समग्र रूप के साथ सम्बद्ध करके देखते हैं। हमें यह मत सर्वथा मान्य प्रतीत होता है क्योंकि न तो

साहित्य एक इकाई है, और न सहृदय ही। साहित्य में भी अनेक वृत्तियों एवं विचारों का संश्लेष होता है और सहृदय में भी। इसका परिणाम यह होता है कि साहित्य के श्रवण या दर्शन से सहृदय की कोई एक वृत्ति-विशेष जाग्रत या तृप्त नहीं होती वरन् उसका सारा व्यक्तित्व ही ज्ञात एवं अज्ञात रूप से उद्बुद्ध हो उठता है और प्रभावित होता है।

पाश्चात्य मत

जब हम पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्र के इतिहास में काव्य के प्रयोजन की समस्या का अवलोकन करते हैं तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ दो प्रयोजनों: आनन्द और उपदेश में विरोध लक्षित होता है। कुछ विचारक आनन्द को प्रधानता देते हैं और कुछ उपदेश को। अतः वहाँ उस समन्वित दृष्टि का अभाव लक्षित होता है जो भारतीय काव्य दृष्टि में आरम्भ से ही रही। दूसरी बात यह है कि पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्र ने काव्य के आनन्द के स्वरूप के विश्लेषण की ओर कम ध्यान दिया है। प्लेटो तथा काँट आदि कुछ दार्शनिकों ने ही काव्यानन्द की नैतिकता-अनैतिकता पर विचार किया है।

प्लेटो ने काव्य के आनन्द को अनैतिक सिद्ध किया। उनके मत में आनन्द के विविध स्तर हैं—ऐन्द्रिय, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक। काव्य का आनन्द ऐन्द्रिय है, वासना पर आधारित है और इसलिए दूषित है। उन्होंने कहा है कि कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जो सिवाए आनन्द प्रदान करने के और कोई हित नहीं करती। अध्ययन आदि ऐसे कार्य हैं जो आनन्द भी प्रदान करते हैं और उपयोगी भी होते हैं। ऐसा आनन्द शिव है। किन्तु आनन्द को ही शिवत्व का एक मात्र प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि कोई साधना ऐसी है जो केवल आनन्द प्रदान करती है और जिसका इसके अतिरिक्त कोई अन्य प्रयोजन नहीं, वह हेय है।[1]

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने ही अपने गुरु के मत का खंडन करते हुए काव्यानन्द के महत्व एवं उसकी नैतिक-आत्मिक उपयोगिता की प्रतिष्ठा की है। उसके अनुसार अध्ययन, काव्य और संगीत का आनन्द सर्वोत्कृष्ट आनन्द है। काव्यानन्द आत्मिक स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है। शारीरिक एवं आत्मिक दोनों

---

1. There are certain products of the image making art which have no value, furnish no utility, no good, beyond a mere accompanying pleasue.........But that an activity should yield only pleasure is not good. Nothing solid or serious is then offered for appraisal.
—Gilbert and Kuhn : *A History of Fsthetics*, p. 35.

प्रकार के रोगों का कारण कोई अतिशयता या अभाव होता है। काव्य का आनन्द आत्मा के रिक्त अंशों को पूर्ण एवं तृप्त करता हुआ मानसिक सन्तुलन की स्थापना करता है। और कभी-कभी भावों का अतिशय संग्रह विष का कार्य करता है—जैसे कि त्रास एवं करुणा का। त्रासदी के द्वारा उन मनोविकारों का विरेचन होता है और व्यक्ति को मनःशान्ति प्रदान होती है। इस प्रकार नाटक भी मानवता की सेवा करता है।[1]

पुनर्जागरण काल में स्कैलिगर ने काव्य के नैतिक एवं दार्शनिक पक्षों का उद्‌घाटन करते हुए यह कहा कि कवि तो साक्षात् ईश्वर है क्योंकि वह आदर्श रूपों का निर्माण करता है और इस प्रकार प्रकृति को पूर्णता प्रदान करता है तथा ईश्वर की सृजनात्मिका क्रिया का अभ्यास करता है।[2]

एडीसन ने कलाओं द्वारा प्राप्त आनन्द की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि सहृदय का मन काव्य में प्रस्तुत विचारों की तुलना प्राकृतिक विचारों से करता है और उनमें जितना ही अधिक साम्य होता है, हम उससे उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य का विचार-तत्व जीवन के नैतिक विश्वासों के अनुकूल होना चाहिए। यह नैतिक-धार्मिक अनुकूलता ही कलाओं के आनन्द का मूल कारण है।[3]

मैन्डल्सॉह्न[4] के मतानुसार कला आत्मा की वह शक्ति है जो नैतिक सिद्धान्तों की ओर मन को सहज ही प्रवृत्त करती है तथा इस प्रकार आत्मा की विविध शक्तियों में सामरस्य की स्थापना करती है। अतः काव्य का प्रयोजन नैतिक-आध्यात्मिक दोनों ही है।

---

1. Not only music, then, but the drama serves humanity by unburdening heavy souls and by inducing the peculiar pleasure of relief.
—Gilbert and Kuhn : *A History of Esthetics*, p. 75.

2. The most inclusive definition of the arts made them either a perfecting of nature or an emulation of God's creative activity.........*A poet is another God, said* Scaliger boldly, for *he can create what ought* to be.
—*Ibid*, p. 183.

3. To sum up, then, the pleasures of the imagenation for Addison, though *sensucus* in their orgin *are* moralistic, reflective and religious in their *bearings*.
—*Ibid*, p. 239.

4. According to him art, in exercising the intermidiate faculty of the soul, helps to convert moral principle in to natural inclination, establishing a harmonious cooperation of the energies of the soul.
—*Ibid*, p. 296.

कांट ने काव्य के आनन्द को निस्वार्थ आनन्द माना है क्योंकि वह स्वयं ही अपना साध्य है। उसमें किसी प्रकार की स्वार्थ भावना या व्यक्तिगत हानि-लाभ का भाव नहीं होता। इससे यह भी सिद्ध है कि काव्य का आनन्द सभी को समान रूप से प्राप्त होता है। किन्तु बाद में औदात्य का विवेचन करते हुए कांट ने यह माना है कि औदात्य वस्तुतः एक आत्मपरक भावना है जो चेतना की महिमा एवं गरिमा की व्यंजक है। इस प्रकार काव्य में नैतिकता का समावेश भी हो जाता है क्योंकि सौन्दर्यमय विचार नैतिक प्रतीक का कार्य करता है।[१]

शिलर[2] ने भी काव्य के नैतिक-सांस्कृतिक प्रयोजन पर विशेष बल दिया है। उसने अपने युग के जीवन का विश्लेषण किया और यह देखा कि सांस्कृतिक अनेकरूपता में मानवात्मा विच्छृङ्खलता की ओर अग्रसर हो रही हैं। विज्ञान की विविध शाखाओं-प्रशाखाओं ने, धर्म और राजनीति के विच्छेद ने, दर्शन और व्यवहार की असङ्गति ने मानवीय व्यक्तित्व को खण्ड-खण्ड कर दिया है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति और समाज के समुचित विकास के लिए मानवात्मा की अखण्ड समरसता की पुनर्प्रतिष्ठा करनी होगी। और शिलर ने यह मत व्यक्त किया है कि यह कार्य कलाओं के द्वारा ही हो सकता है। अतः उसने काव्य का प्रयोजन सौंदर्यात्मक शिक्षा (इस्थैटिक एजूकेशन) माना है। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी साहित्य की सांस्कृतिक उपयोगिता पर बल दिया है और सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा कर समाज के समरस विकास को ही साहित्य का प्रधान उद्देश्य माना है। किन्तु शिलर ने जीवन के भौतिक एवं आत्मिक पक्षों

---

1. The disinterestedness of esthetic pleasure entails a second property......An object that pleases me esthetically, pleases me impersonally, pleases me as amember of humanity, and not as a unique individual......He says that an esthetic idea can serve as a moral symbol.
   —Gilbert and Kuhn : *A History of Esthetics*, p. 335, 341.
2. The refined diversification of functions in social life, though promoting the ends of society as a whole, threatens the single soul with disintegration.......The *hiatus* in life, as we shall soon see, is to be bridged by art. Correspondingly the philosophers' contribution to the work of unification and salvation consists in thinking art......As man is both matter and spirit, it is his taste to keep these two coordinate instincts in blance. To secure this balance as the truly human state of the human being, *Schiller* introduces a third 'drive' the play impulse which constitutes beauty and art.
   —*Ibid*, p. 360, 365, 365,

के बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिए 'क्रीड़ावृत्ति' की उद्भावना की जो सौंदर्य एवं कला में व्यक्त होती है।

रस्किन ने भी साहित्य में सौंदर्य एवं न्याय के समन्वय की बात की है। आरंभ में वह सौंदर्य-प्रेम और न्याय-प्रेम को दो वृत्तियाँ समझता था और इतना ही नहीं, उसे दोनों में विरोध भी प्रतीत होता था। किन्तु बाद में चलकर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि दोनों ही एक ही मूल तत्व के दो पक्ष हैं। अन्त में उसने यह प्रतिपादित किया कि सौंदर्य-प्रेम का अर्थ वस्तुतः ईश्वर-प्रेम ही है और इसलिए साहित्य में ईश्वर की ही विभूतियों को—असीमता, एकता, शान्ति, सन्तुलन, पवित्रता आदि को ही व्यक्त करना चाहिए। किन्तु ईश्वर की सभी विभूतियाँ नैतिक विभूतियाँ हैं और इसलिए उनके प्रत्यक्षीकरण के लिए मन का नैतिक होना परम आवश्यक है। इस प्रकार उसने कला में सौंदर्य और नैतिकता को अभिन्न सिद्ध किया है।

शॉपनहावर दुखवादी दार्शनिक था जो संसार की मूल इच्छा-शक्ति को निरुद्देश्य एवं विवेकहीन मानता था। इसीलिए संसार में सुख की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। उसने आनन्द की अभावात्मक परिभाषा की है। उसके मत में दुख का अभाव ही आनन्द है। और साहित्य मनुष्य को इसी स्थिति तक ले जाता है क्योंकि उसके मत में साहित्य मानव मेधा की श्रेष्ठतम उपलब्धि है और उसका स्रोत तथा लक्ष्य ज्ञान का प्रेषण है।

उन्नीसवीं शती के आरंभ में फ्रांस में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसके अनुसार साहित्य को जीवन से सर्वथा पृथक् रचना के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। फ्रांस में गुस्टाव फ्लाबर्ट (१८२१-१८८०), थियोफील गॉतिये (१८११-१८७२), एडमंड, जूले दी गोन्कूर (Jules de GonCourt) (१८१२-१८९६, १८३३-१८७२) और बूदलेयर (१८२१-१८६७) थे। इंगलैंड में वाल्टर पेटर (१८३४-१८९४) तथा ऑस्कर वाईल्ड (१८५६-१९००) इसके प्रतिनिधि थे और अमरीका में ऐडगर ऐलन पो (१८०९-१८४९) ने इसकी प्रतिष्ठा की। ये सौन्दर्य को जीवन से असम्बद्ध, परम मूल्य के रूप में स्वीकार करते थे और साहित्य में उसी की अभिव्यक्ति को साहित्यकार का साध्य मानते थे। किन्तु तॉल्सतॉय, ने इस सिद्धान्त का तीव्र विरोध किया और इसे ह्रासोन्मुखी सभ्यता के विचारों की अभिव्यक्ति माना। उसने श्रेष्ठ और उच्चतम मनोवेगों के संप्रेषण को ही साहित्य का लक्ष्य माना और साहित्य में विषय की महानता एव नैतिकता को अनिवार्य माना है। अतएव सामाजिक को प्राप्त आनन्द सर्वथा नैतिक ही होगा। यद्यपि आनन्द का सम्बन्ध तो अनुभूति की प्रेषणीयता से है

और नैतिकता का विषयवस्तु की महानता से, फिर भी श्रेष्ठ साहित्य में दोनों की अनिवार्य सत्ता के कारण वह आनन्द सदैव नैतिक ही होगा ।[1]

जार्ज सान्त्याना ने कला एवं आनन्द के सम्बन्ध पर जो विचार व्यक्त किए हैं वह भारतीय मत से बहुत मिलते-जुलते हैं । उनके मत में आनन्द ही जीवन की समस्त साधनाओं का लक्ष्य होता है और इसलिए साहित्य का उद्देश्य भी आनन्द ही है । किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि वह आनन्द विवेक-संगत हो, मानवीय हो और जिन व्यापारों में यह आनन्द जितना अधिक होगा वे उतने ही सुन्दर होंगे । उनके मत में कलावादी साहित्यकारों की दशा उस स्त्री के समान है जो पुष्पों की प्रेमिका बनती है और उनके बीजों को उर्वरा धरती में बोने की बजाए उनको पुस्तकों में दबाकर रख लेती है ।[2] वस्तुत: कला आनन्द प्रदान करती हुई आत्मा और आत्मा में ऐक्य की प्रतिष्ठा करती है ।[3]

---

१. **इस प्रकार सफल कलाकार को अपनी उत्कट भावना के परितोष द्वारा आनन्द का अनुभव होता है । कलाकृति को हृदयंगम करने वालों को भावना की वैसी ही उत्कृष्टता और उसके परितोष का, उस भावना के प्रति समर्पण का, उसके अनुकरण का एवं उससे प्रभाव ग्रहण करने का और इस सृजन प्रक्रिया में कलाकार को जो अनुभूति हुई हो, उसके क्षणिक तादात्म्य का आनन्द उपलब्ध होता ।........पूर्ण कलाकृति वह होगी जिसमें वस्तु-तत्त्व सब व्यक्तियों के लिए महत्वपूर्ण और सार्थक होगा और इसलिए वह नैतिक होगा ।**
—टॉल्सटॉय :
(पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा)
—सम्पादिका डा० (श्रीमती)
सावित्री सिहा; अनुवादक—लेखक

2. They (formalists) feel that they are champions of what is most precious in the world, as a sentimental lady might fancy herself a lover of flowers when she pressed them in *a book* instead of planting their *seeds* the garden.
—G. Santayane
from *The Problems of Aesthetics* p. 528.
Ed. Eliceo Viras &
Murray Krieger.

3. The principle that all institutions should subservc happiness runs deeper than any cult for art and lays the foundation in which the later may rest safely......Art in its nobler *acceptation* is an achievement, not an indulgence. It prepares the world in some sense to recieve the *soul*, and the soul to master the world, it disentangles those threads in each that can be woven into the other.
—*Ibid*, pp. 527, 529.

अन्य भी अनेक काव्यशास्त्री ऐसे हैं जिन्होंने कला के नैतिक प्रयोजन को महत्व दिया है। सिडनी का मत है कि साहित्य नैतिक सिद्धान्तों एवं नैतिक उदाहरणों के प्रत्यक्षीकरण द्वारा मनुष्य को शिक्षा देता है। शैले कला के नैतिक प्रयोजन को स्वीकार करता है किन्तु उसकी यह स्वीकृति परोक्ष ही है। उसके मतानुसार कविता मन को उन्मुक्त एवं भावप्रवण बनाकर उसमें महान् आदर्शों को ग्रहण करने की योग्यता अंकुरित करती है। इस प्रकार कविता का आदर्श तो आनन्द है किन्तु वह एक ओर तो सामाजिक के हृदय को अधिक भावप्रवण बनाती है और दूसरी ओर संसार के रूपों एवं व्यापारों को नवीन मार्मिक रूपों में व्यक्त करती है। यदि कवि प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता का उपदेश देने लगे तो उसके काव्य का महत्व कम हो जाएगा क्योंकि नैतिक आदर्श तो युगानुरूप विकसित-परिवर्तित होते रहते हैं।[1] आई० ए० रिचर्ड्स और डीविट पार्कर काव्य के नैतिक प्रयोजन की अभावात्मक रूप से व्याख्या करते हैं। उनके मत में काव्य व्यक्ति की अनैतिक प्रवृत्तियों का निरोध करता है तथा उन प्रवृत्तियों की अति का विवेचन करता है जो अनैतिकता की ओर प्रेरित होती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों एवं सौंदर्य शास्त्रियों ने भी काव्य और नैतिकता के सम्बन्ध पर विचार किया है और कलावादियों के अतिरिक्त सभी ने काव्य को भावात्मक या अभावात्मक रूप से नैतिकता का पोषक माना है। भारतीय विवेचन और पाश्चात्य

---

१. कविता का चिरसंगी है आनन्द। जिन प्राणों का वह स्पर्श करती है वह आह्लाद से पुष्ट उसकी बुद्धिमत्ता ग्रहण करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं। परन्तु काव्य की अमरता के विषय में सारा आक्षेप उस रीति को ठीक-ठीक न समझने के कारण है जिसके द्वारा कविता मनुष्य में नैतिक सुधार करती है। जिन तत्वों का सृजन कविता ने किया है, आचार शास्त्र उनका विन्यास करता है, और नागरिक एवं गार्हस्थ्य जीवन की योजनाओं का प्रतिपादन करता है तथा उदाहरण प्रस्तुत करता है; मनुष्य एक-दूसरे से घृणा करते हैं, एक-दूसरे की निंदा करते हैं, धोखा देत हैं और एक-दूसरे को अपने अधीन करने का प्रयत्न करते हैं—सो इसलिए नहीं कि सराहनीय सिद्धान्तों का अभाव है। कविता और दूसरी अधिक भव्य रीति से अपना कार्य करती है। विचारों के हजारों संयोगों के लिए प्रस्तुत करके वह मन को जगाती है और उसे उदार बनाती है। कविता मानो जगत के प्रच्छन्न सौंदर्य से पर्दा उठा देती है...... परिचित पदार्थ ऐसे लगने लगते हैं मानो अब तक अपरिचित थे, वह उस सब को प्रस्तुत कर

विवेचन में शैली का अन्तर है। भारतीय मनीषियों ने इस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति सूत्र रूप से की है जब कि पाश्चात्य चिन्तकों ने उसके विविध पक्षों का उद्‌घाटन किया है।

ऊपर के सभी पाश्चात्य मतों के विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है। और वह यह कि सभी ने काव्य के एक ही पक्ष को प्रधान माना है—किसी ने आनन्द को और किसी ने नैतिकता को। इस दृष्टि से उन सभी की दृष्टि एकांगी ही कही जा सकती है। तत्सम्बन्धी भारतीय मूल दृष्टि का उद्‌घाटन करते हुए यह कहा गया था कि उसने काव्य को समग्र जीवन से सम्बद्ध माना है। इधर पश्चिम में भी ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने काव्य को समग्र जीवन के साथ सम्बद्ध करके उसके मूल्यांकन की चेष्टा की है और उपर्युक्त मतों की एकांगिता में उन्हें अस्वीकार किया है। यद्यपि इस प्रकार के विवेचन का आभास मैथ्यू आर्नल्ड में भी होता है किन्तु उसका सूक्ष्म सम्बद्ध विश्लेषण पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र में ही हुआ है। इस सम्बन्ध में टॉमस मुनरो का नाम उल्लेखनीय है।

टॉमस मुनरो का मत है कि साहित्य एक संश्लिष्ट रचना है जिसमें विविध भावों, विचारों एवं आकांक्षाओं आदि का संयोग होता है। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही है कि साहित्य के अध्ययन-दर्शन से सामाजिक में विविध प्रतिक्रियाएँ हों। उनमें से आनन्द, उपदेश, त्रास-करुणा का विरेचन आदि किसी एक तत्व को प्रधान मान लेना अवैज्ञानिक एवं अग्राह्य है।[1] स्पष्ट है कि जहाँ

देती है जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है। और फिर जिन्होंने उनका एक बार भी भावन किया हो, उनके मानस में वे विभूतियाँ स्निग्ध एवं उदात्त तत्व के स्मारक के रूप में—जिसका प्रसार इन सभी विचारों एवं कार्यों में हो जाता है जो उससे संपृक्त होते हैं—दिव्य आलोक से मंडित होकर प्रत्यक्ष हो उठती हैं।.........अतः कवि के लिए यह उचित नहीं कि वह अपनी काव्य-कृतियों में सही-गलत की अपनी धारणाओं का समावेश करे क्योंकि उसकी ये धारणाएँ अपने देश-काल में सीमित होती हैं और कविता उनसे मुक्त होती है।

—शेले :

(पाश्चत्य काव्यशास्त्र की परंपरा)

अनु० महेंद्र चतुर्वेदी; सम्पा० डा० सावित्री सिन्हा, पृ० १७४, १७६, १७७

1. The aesthetic effects and functions of a complex, many sided work of art cannot be reduced to any one quality such as beauty or sublimity, to any one type of experience such as excitement, repose, or pleasant, or even to a more specific

तक मूल दृष्टि का प्रश्न है, भारतीय मत और मुनरो के मत में समानता है क्योंकि दोनों ही काव्य को समग्र जीवन के साथ सम्बद्ध मानकर चलते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र की एक अन्य विशेषता की ओर संकेत करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि उसमें चारों पुरुषार्थों को काव्य का प्रयोजन माना है, फिर भी प्रधान प्रयोजन आनन्द ही है। मम्मट ने रस को सकल प्रयोजनों का मूलभूत प्रयोजन माना है। आनन्दवादी नीति-सिद्धान्त का विवेचन करते समय इस पर विस्तृत रूप से विचार किया जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन में हमने काव्य और नैतिकता के संबंध पर व्यापक दृष्टि से विचार किया है और यह स्पष्ट किया है कि काव्य जीवन को शिवत्व की ओर प्रेरित करता है। लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि 'शिव' क्या है? नीतिशास्त्र में इस प्रश्न पर विचार किया जाता है और हमें इस सम्बन्ध में विविध नैतिक सिद्धान्त मिलते हैं जो एक-दूसरे का खंडन कर अपनी सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। इन नैतिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत विषय को पूर्ण रूप से हृदयंगम करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

'शिव' का स्वरूप

नैतिकता का संबंध मनुष्य के आचरण से है। नीतिशास्त्र में मानव के आचरण के शिव एवं अशिव पक्ष का अध्ययन किया जाता है। किन्तु मूल समस्या यह है कि शिव क्या है? उसकी क्या परिभाषा है? यद्यपि सामान्य रूप से व्यक्ति भले और बुरे में अन्तर जानते हैं किन्तु फिर भी जब हम भलाई

---

concept, such as "purging the emotions through pity and fear." Such terms help a little, but not much in distinguishing main types of art and of aesthetic effect,

Art is functional in performing a desired service which is distinctive and some what specialized ; one which differs from that of other main branches of civilisation such as science, religion, commerce and industry. It co-operates with these and others in the total activity of civilized society. Works of art and experiences of them play a regular, valuable part in the lives of broadly educated persons. They co-operate with other means and types of experience toward the inclusive aim of good life, with work and play, love, friendship, family life and citizenship. Their forms and functions, ideally and actually will vary according to the complex of activities and means to them within which they are called upon to operate.

—Thomas Munro : *Toward Science in Aesthetis* pp. 244. 239,

और बुराई की परिभाषा करने का प्रयास करते हैं तो प्रतीत होता है कि यह कार्य जितना सरल प्रतीत होता है उतना ही कठिन है।

इस संबंध में पहला प्रश्न तो यह है कि शिव का आधार क्या है ? इस संबंध में दो तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है-एक अन्तर्ज्ञान, द्वितीय तर्क। जो विचारक आस्तिक हैं, ईश्वर पर विश्वास करते हैं, वे यह मानते हैं कि धर्म एवं अधर्म, अथवा शुभ तथा अशुभ का ज्ञान अन्तर्ज्ञान द्वारा होता है। वह दैवी विधान है जिसमें मनुष्य परिवर्तन नहीं कर सकता। दूसरे वर्ग के विद्वान् वे हैं जो शुभ को युग एवं समाज-सापेक्ष मानते हैं और व्यवहार एवं तर्क के आधार पर उसकी व्याख्या करते हैं। इनमें भी मतभेद पाया जाता है क्योंकि कुछ विद्वान् आनन्द पर बल देते हैं, कुछ व्यक्तित्व की पूर्णता पर और कुछ मूल्य पर। इस प्रकार शिव के निर्णायक चार आदर्शों की स्थापना की गई है।

१—नियम का आदर्श,

२—आनन्द का आदर्श,

३—पूर्णता का आदर्श, और

४—मूल्य का आदर्श।

ये चारों आदर्श चार कसौटियाँ हैं जिनके द्वारा कर्मों के शुभाशुभ पक्ष का निर्णय किया जाता है। प्रथम मत के अनुसार वे कर्म शिव हैं जो नियमों का पालन करते हैं, द्वितीय मत के अनुसार वे कर्म शुभ हैं जिनका पर्यवसान आनन्द में होता है, तृतीय मत में वे कर्म शुभ माने जाते हैं जो जीवन को पूर्णता की ओर ले जाएँ, और चतुर्थ मत जीवन के विविध मूल्यों के आधार पर कर्मों के शिवत्व या अशिवत्व का निर्णय करता है।

१—नियम का आदर्श

'नियम' शब्द के अर्थ में कुछ अस्पष्टता पाई जाती है, इसलिए पहली आवश्यकता यह है कि हम यह स्पष्ट करें कि नीतिशास्त्र के नियम से हमारा क्या अभिप्राय है।[1] मैकेंज़ी ने इस पर विचार करते हुए यह कहा है कि नियम चार प्रकार के हो सकते हैं—(१) वे नियम जिनमें परिवर्तन भी हो सकता है और जिनकी अवहेलना भी हो सकती है; जैसे किसी राष्ट्र के कानून। (२) वे जिनका परिवर्तन संभव है किन्तु जो तोड़े नहीं जा सकते—जैसे सूर्य का निकलना। यदि ग्रहों-उपग्रहों में कुछ परिवर्तन हो जाए तो सौर्य मंडल में परिवर्तन हो सकता है किन्तु जब तक यह परिवर्तन नहीं हो जाता तब तक सूर्य का नियमित रूप से निकलना अवश्यम्भावी है। (३) वे नियम जिनकी अवहेलना तो हो सकती

---

१. **ए मैनुअल ऑफ ऐथिक्स** —जॉन एस० मैकेंजी, पृ० १२३

है किन्तु जिनमें परिवर्तन नहीं हो सकता—जैसे नैतिक नियम, और (४) वे नियम जिन में न तो परिवर्तन ही हो सकता है और न उनकी अवहेलना ही हो सकती है—जैसे धरती की आकर्षण-शक्ति का नियम। वस्तुतः द्वितीय एवं चतुर्थ दोनों प्रकार के नियम एक प्रकार से समान ही हैं क्योंकि वे सब कुछ मान्यताओं पर आश्रित हैं। इस प्रकार इन नियमों में यह भिन्नता है कि कुछ तो उसे व्यक्त करते हैं जो है, कुछ उसे व्यक्त करते हैं जो अनिवार्यतः होता है या होगा, और कुछ उसे व्यक्त करते हैं जो होना चाहिए। तृतीय वर्ग में नैतिक नियम आते हैं और वे आदर्शात्मक कहलाते हैं।

कांट ने नैतिक नियमों को मन के अपरिहार्य आदेश के रूप में माना है और वे कानून से इस बात में भिन्न हैं कि वह सरकार द्वारा दिया गया आदेश है। कानून की उपयोगिता के विषय में कभी कोई सन्देह भी कर सकता है किन्तु नैतिक नियम सब प्रकार के संदेहों से परे हैं—वे सार्वभौम एवं सत्य हैं। किन्तु कांट के इस मत को बाद में स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि उसमें सामाजिक जीवन के विकासात्मक पक्ष की अवहेलना थी।

नैतिक नियमों की स्थापना या भावना विविध साधनों द्वारा होती है, यथा—जाति-विशेष द्वारा, ईश्वर द्वारा, प्राकृतिक नियम द्वारा, नैतिक भावना द्वारा, अन्तरात्मा द्वारा, और अन्तर्ज्ञान द्वारा। एक प्रकार से ईश्वर और अन्तर्ज्ञान के साधनों का समन्वय भी किया जा सकता है क्योंकि भारतीय विश्वास के अनुसार वेद ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है जिसका अन्तर्ज्ञान ऋषियों को सृष्टि के आरम्भ में हुआ था।

प्राचीन भारतीय जीवन सभी दृष्टियों से वेदाश्रित था और वेद दैवी विभूति माने जाते थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र दैवी नियमों को आदर्श मानता था। वेदों के आधार पर रचित ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं स्मृतियों में आचरण के शिव एवं अशिव पक्ष का उद्घाटन किया गया है। इसके अतिरिक्त 'नीति-मञ्जरी' आदि ग्रंथों में उपर्युक्त ग्रंथों के आधार पर ही शिव एवं अशिव का विवेचन किया गया है। नीति-मंजरी के लेखक ने अपना ग्रंथ आरंभ करते हुए लिखा है कि ऋग्वेद एवं अन्य ब्राह्मण ग्रंथों आदि का विचार करके नीति मंजरी की रचना की गई है। वह धर्म जो कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का ज्ञान कराए, नीति कहलाता है। तथा इसका लाभ यह है कि यह जानकर धर्म में रति होगी और अधर्म से विरति।[1]

---

१. नीति संहितानृगर्थानन्यान्ब्राह्मणसूत्रगतार्थान्विचार्य नीतिमञ्जरीं वक्ति। एवं कर्त्तव्यमेवं न कर्त्तव्यमित्यात्मको या धर्मः सा नीतिः। तस्याः मञ्जरी नीतिमञ्जरी। इमां ज्ञात्वा धर्मे रतिरधर्मे विरतिर्भवति।

नीतिमञ्जरी—द्याद्विवेद—पृ० १

नीति मंजरी में धर्म, अर्थ और काम—तीनों का विस्तृत विवेचन किया गया है और फिर यह कहा गया है कि इनके यथावत् पालन से मोक्ष की सिद्धि भी होती है। इस प्रकार भारतीय नीतिशास्त्र उन्हीं चारों पुरुषार्थों को लक्ष्य मान कर चला है जो काव्य के प्रयोजन भी माने गए हैं। इस ग्रंथ में धर्म-पालन, अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग की धर्म-सम्मत रीतियों का उल्लेख है जो वेदादि पर आधारित हैं। उनका विस्तार पूर्वक विवेचन प्रस्तुत प्रयास की सीमा में नहीं आता। इतना स्पष्ट है कि मूल दृष्टि 'अन्तर्ज्ञान' पर ही आधारित है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में चारों पुरुषार्थों की स्वीकृति काव्य में भारतीय नैतिक सिद्धान्तों के समावेश का फल है। नीति मंजरी में कहा गया है कि धर्म, अर्थ और काम की समुचित सिद्धि से मोक्ष सहज ही प्राप्त हो जाता है। यही बात काव्य के प्रसंग में भी कही जा सकती है। अतः स्पष्ट है कि काव्य-प्रयोजनों के रूप में चतुर्वर्ग की स्थापना भारतीय नियमवादी या मर्यादावादी नीति का ही प्रभाव है। किन्तु जैसा कि पहले संकेत किया गया है, बाद में चल कर काव्य में आनन्द को प्रधानता मिली जो आनन्दवादी नैतिक आदर्श की ओर इंगित करती है। एक दृष्टि से तो आनन्द का संबंध मोक्ष से मानकर दोनों दृष्टियों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है किन्तु दोनों की मूल दृष्टियों में फिर भी अन्तर बना रहेगा जो मर्यादावाद और आनन्दवाद का अन्तर है। इसका विस्तृत विवेचन अगले प्रकरण में करेंगे।

२—आनन्द का आदर्श

यह स्पष्ट है कि मनुष्य सदैव अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए साधना करता है, और इच्छाओं की तृप्ति आनन्दमयी भावना के रूप में व्यक्त होती है। यदि इच्छा अतृप्त रहे तो जीवन दुःखमय हो जाता है और इस स्थिति से सभी वचने का प्रयास करते हैं। सार रूप में कहें तो कह सकते हैं कि व्यक्ति सदैव दुख से बचना चाहता है तथा आनन्द को प्राप्त करना चाहता है। आनन्द जीवन का आदर्श है। इसलिए आनन्द को ही आचरण के शिवत्व की कसौटी के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।

आनन्दवादी सिद्धान्त के चार रूप हैं : (१) मनोवैज्ञानिक आनन्दवाद के अनुसार व्यक्ति सदैव आनन्द-प्राप्ति की साधना करता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है; और इसलिए आनन्द ही आचरण के शुभत्व की कसौटी हो सकती है। किन्तु मनोवैज्ञानिक आनन्दवाद में एक दोष यह है कि कई बार व्यक्ति ऐसे रास्तों को अपनाता है जो अत्यन्त कष्टप्रद होते हैं; जैसे धर्म-परिवर्तन के स्थान पर कुछ लोगों ने अपने जीवन का बलिदान करना अधिक श्रेयस्कर समझा। दूसरी

आपत्ति सिज्विक[1] ने यह की है कि हमारे कार्यों का उद्देश्य कोई मूर्त्तफल होता है, न कि उससे प्राप्त आनन्द। फल-प्राप्ति के साथ आनन्द भी प्राप्त होता है, इससे यह नहीं सिद्ध होता कि आनन्द ही लक्ष्य है। वस्तुतः कार्य-सिद्धि के लिए तो थोड़ी-बहुत निष्पक्षता भी अनिवार्य है। इसलिए मात्र आनन्द को आदर्श नहीं माना जा सकता। (२) नैतिक आनन्दवाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अस्वीकार करता है कि आनन्द ही सदैव व्यक्ति का साध्य होता है। किन्तु साथ ही जीवन में आनन्द के व्यापक महत्व को स्वीकार करते हुए यह कहता है कि आनन्द ही आचरण का आदर्श होना चाहिए। किन्तु यहाँ यह प्रश्न होता है कि व्यक्ति का आनन्द साध्य है या समाज का? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं जिनके आधार पर दो मतों की प्रतिष्ठा हुई है। (३) अहम्वादी आनन्दवाद जिसमें व्यक्ति को अपना आनन्द आदर्श बनाना चाहिए, और (४) सार्वभौमिक आनन्दवाद जिसमें समाज का आनन्द आदर्श होता है।

भारतीय नैतिक जीवन में एक ओर नियमवादी या मर्यादावादी सिद्धान्त प्रवाहित हुए और दूसरी ओर आनन्दवाद का भी विकास हुआ। जयशंकर प्रसाद के मत में वैदिक युग में ही दोनों धाराएँ लक्षित होती हैं। मर्यादावादी धारा का प्रतीक वरुण है और आनन्दवादी धारा का प्रतीक इन्द्र। वरुण में तर्क और दुख की प्रधानता है तथा इन्द्र में आनन्द की।[2] अन्त में आनन्दवादी धारा की ही विजय हुई। किन्तु फिर भी मर्यादावादी धारा देर तक प्रवाहित रही और आज तक आर्य समाज आदि के रूप में वही धारा प्रवाहित है।

---

१. नीति-मंजरी—द्याद्विवेद, पृष्ठ ५६

२. कदाचित् इन आलोचकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आरंभिक वैदिक काल में प्रकृतिपूजा अथवा बहुदेव-उपासना के युग में ही जब "एकं सद्विप्राबहुधा वदंति" के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था, तभी आत्मवाद की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई। इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे। एकेश्वरवाद के वरुण और आत्मवाद के इंद्र प्रतिविधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेक-पक्ष के आदर्श थे। महावीर इंद्र आत्मवाद और आनंद के प्रचारक थे। वरुण को देवताओं के अधिपति पद से हटना पड़ा, इंद्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनंद की विचारधारा उत्पन्न की। भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनंद का ही दृश्य देखना आरंभ किया और एकात्मवाद के प्रतिष्ठापक इंद्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पाएँ हुईं।

—प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४६,५०

प्रसादजी के अनुसार उपनिषदों में आनन्द की प्रतिष्ठा हुई जो आगमों के माध्यम से होती हुई कृष्ण के रूप में व्यक्त हुई और विवेकवादी—दुखवादी धारा हीनयान बौद्ध-संप्रदाय से होती हुई वैष्णव धर्म में राम के रूप में प्रकाशित हुई।[1] अभिनवगुप्त शैव थे और उन्होंने रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में उसी आनन्दमयी धारा का उपयोग किया।[2] प्रसाद का यह मत सर्वथा ग्राह्य है। किन्तु प्रसाद जी का मत है कि भरत में ही हमें यह आनन्दवादी दृष्टि मिलती है। किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। भरत ने काव्य-प्रयोजनों में धर्म का उल्लेख किया है, भामह, रुद्रट तथा कुन्तक ने चतुर्वर्ग को काव्य का प्रयोजन

---

१. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तरःआत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। सा वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधातम्। अन्वयं पुरुषविधः तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। —(तैत्ति०, २।५)

उपनिषद् में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गयी थी, जो आनन्द-सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। —वही, पृ० ५२

× × × ×

श्रुतियों का और निगम का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने आगमों की अवतारणा की और ये आत्मवादी आनन्द-मय कोष की खोज में लगे रहे। —वही, पृ० ५५

× × × ×

रहस्य संप्रदाय अद्वैतवादी था। इन लोगों ने पाशुपत योग की प्राचीन साधना-पद्धति के साथ-साथ आनन्द की योजना करने के लिए काम-उपासना-प्रणाली भी दृष्टान्त के रूप में स्वीकृत की। इसके लिए भी श्रुति का आधार लिया गया।

तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् (बृहदारण्यक)। उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते।

आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। —वही, पृ० ४७

२. अभिनव गुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द सिद्धान्त की अभिनेय काव्य-वाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। शिव सूत्रों में लिखा है—नर्त्तक आत्मा, प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि।········अभिनवगुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया। —वही, पृ० ७६

माना है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, चतुर्वर्ग की भावना आनन्द-वाद के अनुकूल नहीं वरन् मर्यादावाद अथवा नियमवाद के अनुकूल है। अतएव आरंभिक भारतीय काव्य-प्रयोजन पर नियमवादी नैतिक दृष्टि का प्रभाव है। केवल अभिनव गुप्त में ही आनन्दवादी दृष्टि लक्षित होती है। और उसकी स्थापना उन्होंने इतनी गंभीरता के साथ की कि उसे परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया। किन्तु मम्मट एवं विश्वनाथ आदि परवर्ती चिन्तकों पर भी नियमवाद का प्रभाव था, इसीलिए मम्मट ने कान्तासम्मित उपदेश और विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग को भी माना। किन्तु यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि इनमें भी आनन्दवादी दृष्टि का प्राधान्य है।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि भारतीय आनन्दवाद उपर्युक्त विवेचित आनन्दवादी सिद्धान्तों में किसके अन्तर्गत आता है? वस्तुतः यह उनमें से किसी के अन्तर्गत भी अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। यह न तो मनोवैज्ञानिक आनन्दवाद है और न नैतिक ही। इसे हम दार्शनिक आनन्दवाद कहना उपयुक्त समझते हैं। पश्चिम के चिन्तन में न तो इस प्रकार के दर्शन का उदय हुआ और न नैतिक दृष्टि का ही। इसलिए वे दार्शनिक आनन्दवाद के सिद्धान्त से परिचित ही नहीं हैं। रस के स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या में इस आनन्दवादी दृष्टि को पूर्णरूपेण स्पष्ट किया गया है।

अब केवल दो नैतिक आदर्शों का विवेचन शेष है—एक, पूर्णता का आदर्श; द्वितीय, मूल्य का आदर्श। इन दोनों आदर्शों का प्रस्तुत विवेचन से सीधा संबंध नहीं है। फिर भी विषय को पूर्ण करने के लिए उनका संक्षिप्त विवेचन दिया जा रहा है।

३—पूर्णता का आदर्श

विकासवाद के ज्ञान के साथ ही इस आदर्श की प्रतिष्ठा हुई—दर्शन में इसकी प्रतिष्ठा हीगेल (१७७०-१८३१) और कॉम्टे (१७९८-१८५७) ने की और प्राणिशास्त्र में लैमार्क तथा डार्विन ने। इस सिद्धान्त के अनुसार यह मान लिया गया कि जीवन के अन्य रूपों की भाँति नैतिक जीवन का भी विकास होता है। जीवन के अन्य पक्षों के समान ही नैतिक पक्ष का भी एक आदर्श होता है जहाँ पहुंच कर व्यक्ति का जीवन नैतिक पूर्णता को प्राप्त करता है। यहाँ कर्मों का मूल्यांकन यह देखकर किया जाता है कि वे उस पूर्णता के आदर्श की ओर ले जाने में कहाँ तक सहायक होते हैं। यहाँ मूल प्रश्न यह है कि 'पूर्णता' का स्वरूप क्या है? इस पर विद्वानों का मतभेद है और विविध

दार्शनिकों ने पूर्णता की विविध व्याख्याएँ की हैं जिनका विवेचन प्रस्तुत प्रयास की सीमा से बाहर है।

४—मूल्य का आदर्श

'मूल्य' वस्तुतः अर्थशास्त्र की एक अवधारणा है। इसकी परिभाषा यह है कि मूल्य वह है जिसके द्वारा किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है। यही परिभाषा नीतिशास्त्र में भी स्वीकार कर ली गई और यह माना गया कि जिसके द्वारा किसी मानव-आवश्यकता की पूर्ति होती है, वह मूल्य है। मनुष्य की विविध आवश्यकताएँ—भौतिक, मानसिक, आत्मिक आदि हैं, और उन सब की तृप्ति में सहायक कर्म मूल्यवान हैं। इस मत के अनुसार साहित्य भी एक मूल्य है क्योंकि वह जीवन की एक वृत्ति-सौंदर्य-वृत्ति की तृप्ति करता है। किन्तु यह मत अत्यधिक विश्लेषण पर आधारित होने के कारण मान्य नहीं है। क्योंकि यह प्रश्न हो सकता है—क्या साहित्य के द्वारा केवल सौंदर्य-वृत्ति का ही परितोष होता है ? स्पष्टतः ऐसा नहीं है। साहित्य केवल सौंदर्य-वृत्ति को ही तृप्त नहीं करता वरन् मानसिक एवं अध्यात्मिक शक्तियों को भी अकुरित-पल्लवित करता है। वस्तुतः इस मत में भी साहित्य के महत्व की आंशिक स्वीकृति ही है और उसके मूलभूत प्रयोजन पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

प्रस्तुत अध्याय में सबसे पहले औचित्य सिद्धान्त का विवेचन करने के उपरान्त उसके नैतिक पक्ष का उद्घाटन किया गया है, फिर काव्य और नैतिकता की समस्या पर विचार किया गया है और अन्त में विविध नैतिक सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए यह प्रदर्शित करने का उपक्रम किया गया है कि रस-सिद्धान्त को किस नैतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मूलतः विवेचन के ये तीनों ही पक्ष घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। क्योंकि औचित्य सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि रस नैतिकता के दृढ़ धरातल पर अधिष्ठित है। जहाँ विषय अनैतिक होगा वहीं रस खंडित हो जाएगा और उसकी सम्यक् अनुभूति बाधित रहेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त में रस के रूप में आनन्द की स्वीकृति है और औचित्य के रूप में नैतिकता की। रस और औचित्य, आनन्द और नैतिकता दोनों ही काव्य में अन्योन्याश्रित एवं अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। इसी सम्बद्ध एवं अखंड रूप में ही ये भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य के प्रधान प्रयोजन के रूप में प्रतिष्ठित किए गए हैं। वस्तुतः इधर भारतीय काव्यशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन एवं गवेषणा में काव्य के आनन्द-पक्ष पर इतना अधिक बल दिया गया है कि उसका नैतिक पक्ष पिछड़ा सा प्रतीत होता है। यह सत्य है कि

प्राचीन-काव्य-शास्त्रियों ने भी रस को–आनन्द को ही काव्य का मूलभूत प्रयोजन माना था और इसलिए हिन्दी के काव्यशास्त्र में भी रस-तत्व का प्राधान्य माना गया। किन्तु जब हम समग्र दृष्टि से—काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक एवं नैतिक—तीनों तत्वों से संयुक्त दृष्टि से रस की सूक्ष्म मीमांसा करते हैं तथा औचित्य सिद्धान्त का विशद विश्लेषण करते हैं तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ रस में आनन्द और नैतिकता दोनों का ही समाहार हो जाता है। एक ओर तो भट्टनायक से लेकर आज तक के काव्यशास्त्रियों ने रस की सात्विकता और ब्रह्मास्वादसहोदरत्व के रूप में जहाँ उसको गम्भीर दार्शनिक अवधारणाओं के समकक्ष रखा, वहाँ उसे उदात्त नैतिकता की गरिमाशाली भूमि पर भी प्रतिष्ठित किया। वस्तुतः सात्विकता में नैतिकता अन्तर्भूत ही है। दूसरी ओर औचित्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट रूप से रस को मान्य नैतिक-जीवन से सम्बद्ध कर दिया। इस प्रकार रस में आनन्द एवं नैतिकता दोनों ही संपृक्त हुए।

आनन्द और नैतिकता की समस्या काव्य के प्रयोजन की समस्या है। इसलिए काव्य-प्रयोजन पर विचार किए बिना प्रस्तुत प्रतिपाद्य की सिद्धि संभव नहीं थी। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि पश्चिम में काव्य-प्रयोजन के विवेचन के प्रसंग में आनन्द और नैतिकता को परस्पर विरोधी मूल्यों के रूप में प्रदर्शित किया जाता रहा है। कभी-कभी दोनों को ही स्वीकार करने की चेष्टा भी की है। किन्तु आनन्द एवं नैतिकता को उस रूप में सम्बद्ध करने की चेष्टा नहीं की गई जैसी भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने की है।

काव्य का प्रयोजन आनन्द है या नैतिक परिष्कार? यह काव्य-प्रयोजन की समस्या को प्रस्तुत करने का एक सामान्य-प्रचलित रूप है। किन्तु प्रस्तुत विवेचन में हमने इस समस्या को दूसरे रूप में रखा है और वह रूप यह है—काव्य का आनन्द नैतिक है या नहीं? हम समझते हैं कि काव्य-प्रयोजन की समस्या को प्रस्तुत करने की यह अधिक संगत रीति है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों के समाने काव्य-प्रयोजन की समस्या का प्रथम रूप तो नहीं था, यह निश्चित है। उन्होंने द्वितीय रूप का भी स्पष्ट कथन या विवेचन नहीं किया। किन्तु उनके विवेचन को देखते हुए हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि उनके उपचेतन में समस्या का द्वितीय रूप रहा होगा। क्योंकि हमारे यहाँ के दार्शनिकों ने अपने दर्शन की प्रतिष्ठा के साथ स्वतन्त्र रूप से नीतिशास्त्र पर विचार नहीं किया। अतएव दार्शनिक चेतना से अनुप्राणित भट्टनायक आदि काव्यशास्त्रियों ने भी स्वतन्त्र रूप से इस पर विचार नहीं किया, यद्यपि भरत ने धर्म को भी काव्य-प्रयोजन में माना था। चाहे स्वतन्त्र रूप से भट्टनायक आदि

उपसंहार

प्रस्तुत प्रबन्ध में रस-सम्बन्धी विविध मतों की दार्शनिक एवं नैतिक व्याख्या का प्रयास किया गया है। रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है और सूक्ष्म धरातल पर उसके संगत मूल्याङ्कन के लिए यह आवश्यक है कि दार्शनिक पृष्ठभूमि एवं नैतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर उसका विश्लेषण तथा मूल्याङ्कन किया जाए। अभी तक हिन्दी काव्यशास्त्र में इस प्रकार का प्रयास नहीं हुआ। जहाँ इस प्रकार का अध्ययन अपनी सूक्ष्म सम्बद्धता में अत्यन्त महत्वपूर्ण है वहाँ उसकी कुछ सीमाएँ भी हैं। उसकी सबसे पहली सीमा तो यह है कि लोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक के मूलग्रन्थ प्राप्य नहीं हैं और उनके मतों की व्याख्या के आधार वे उद्धरण हैं जो अभिनव भारती तथा अन्य काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इसलिए इनके मतों—विशेषतः लोल्लट एवं शंकुक के मतों का विवेचन उस पूर्णता के स्तर तक नहीं पहुँचाया जा सकता जैसा कि भरत या अभिनव के मतों के विषय में संभव है। उनके मत जिस रूप में उपलब्ध होते हैं उनमें उनकी नैतिक दृष्टि की चर्चा तो क्या, कोई संकेत तक भी नहीं है। इसी प्रकार दार्शनिक आधार के विवेचन के लिए भी उनमें कोई विशेष संकेत प्राप्त नहीं होते। इसलिए उनके मतों का जो संक्षिप्त रूप प्राप्त है उसी से सन्तोष करना पड़ता है।

विविध काव्यशास्त्रियों के दार्शनिक आधार के विवेचन में अन्तःसाक्ष्य को ही प्रधान स्थान दिया गया है। उनके रस-सम्बन्धी मतों में जिन अवधारणाओं का उपयोग किया गया है उन्हीं के आधार पर उनके दार्शनिक विश्वास का

उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के विवेचन के आधार पर कई मान्य मतों का खंडन करना पड़ा है। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि लोल्लट मीमांसक थे, शंकुक नैयायिक थे, भट्टनायक सांख्य-मतावलम्बी थे और अभिनव-गुप्त वेदान्ती थे। प्रस्तुत प्रबंध में प्रथम दो आचार्यों के मतों के सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि लोल्लट की रस की व्याख्या पर न तो मीमांसा का प्रभाव है और न शंकुक की व्याख्या पर ही न्याय का कोइ विशेष प्रभाव है। यह हो सकता है कि लोल्लट मीमांसक रहे हों और शंकुक नैयायिक, किन्तु मूल प्रश्न यह है कि लोल्लट के मत पर मीमांसा का क्या प्रभाव है और शंकुक का मत कहाँ तक न्याय पर आधारित है? यह स्पष्ट है कि लोल्लट के रस-सिद्धान्त में मीमांसा दर्शन की किसी अवधारणा का उपयोग नहीं किया गया। रही शंकुक के अनुकृतिवाद में अनुमान के प्रयोग की बात, तो इस सम्बन्ध में दो तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम, अनुकृतिवाद में अनुमान का जिस रूप में प्रयोग किया गया है, वह दार्शनिक रूप है ही नहीं क्योंकि उसमें व्याप्ति का अस्तित्व ही नहीं है। द्वितीय, केवल अनुमान के उपयोग से ही उनका मत न्याय दर्शन पर आधारित नहीं माना जा सकता।

यद्यपि हमने यह माना है कि लोल्लट और शंकुक का मत किसी दर्शन विशेष पर आधारित नहीं प्रतीत होता, फिर भी यह देखने का प्रयास किया गया है कि उनके मत दर्शन की किस व्यापक धारा के अन्तर्गत आ सकते हैं। आदि आचार्य भरत के मत पर भी किसी दर्शन-विशेष का प्रभाव नहीं है, फिर भी उसके सम्बन्ध में भी इसी व्यापक दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया हैं। इस प्रसंग में भरत, लोल्लट और शंकुक—तीनों को दर्शन की यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत माना गया है।

भट्टनायक के मत में दार्शनिक अवधारणाओं का प्रचुर प्रयोग हुआ है। वस्तुतः भट्टनायक से रस-चिन्तन एक नया मोड़ लेता है, पूर्ववर्ती यथार्थवादी दृष्टि के स्थान पर आत्मवादी दृष्टि की प्रतिष्ठा होती है। यह मान्यता कि भट्टनायक के मत पर सांख्य दर्शन का प्रभाव है, सर्वथा निराधार है क्योंकि सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के बीच तात्विक दृष्टि से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन में ब्रह्मास्वाद की कोई सत्ता ही नहीं है। भट्टनायक ने रसभोग को ब्रह्मास्वाद तुल्य कहा है। इससे सिद्ध है कि भट्टनायक सांख्य मतावलम्बी नहीं वरन् ब्रह्मवादी थे। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वे अद्वैतवादी थे या द्वैतवादी? इस समस्या पर विचार करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वे द्वैतवादी थे क्योंकि उन्होंने रस की भावना के उपरान्त उसका भोग माना है—भाविते च रसे तस्य भोग:। अत: उनकी दृष्टि में

रस के दो रूप हुए—भावित रूप और भुक्त रूप, अर्थात् रस की सत्ता सामाजिक की आत्मा की सत्ता से भिन्न है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा है कि रस का भोग ब्रह्मास्वाद के समान होता है। द्वैतवाद में जीव ज्ञान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार कर उसके आनन्द का भोग करता है। ब्रह्म आत्मा से स्वतंत्र है, भिन्न है और मुक्त आत्मा उसके आनन्द का भोग करती है। उसी प्रकार भट्टनायक के अनुसार रस सामाजिक से भिन्न है तथा मुक्त-हृदय सामाजिक उसका भोग करता है। इससे सिद्ध है कि भट्टनायक द्वैतवादी थे। यह तो हुआ भावात्मक तर्क। विपरीत पद्धति पर विचार करने से यह भी सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायक अद्वैतवादी नहीं थे। अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा ब्रह्म ही है और मुक्तावस्था में वह अपने ही स्वरूपगत आनन्द का भोग करती है। यहाँ आनन्द का भावन और भोग दो व्यापार नहीं हैं, दोनों एक ही हैं। आत्मसाक्षात्कार आनन्द रूप ही है, आनन्द का भावन और उसकी अनुभूति अभिन्न हैं। इसीलिए अद्वैत को मानने वाले अभिनवगुप्त रस के भावन की बात नहीं करते, केवल भोग की ही बात करते हैं तथा रस को सामाजिक से अभिन्न मानते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध में यह भी सिद्ध किया गया है कि भट्टनायक शैव-दर्शन की द्वैतवादी धारा में आते हैं, वेदान्त की द्वैतवादी धारा में नहीं। अभिनव काश्मीर शैव-दर्शन से प्रभावित थे, यह तो निश्चित ही है। भट्टनायक के शैव होने में भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है क्योंकि भट्टनायक और अभिनव गुप्त—दोनों की शब्दावली—संविद्विश्रान्ति, भोग आदि—समान है जो शैव-दर्शन की ही शब्दावली है, वेदान्त की नहीं।

इन सभी मतों की दार्शनिक व्याख्या करते समय पूर्वाग्रह से मुक्त दृष्टि का अवलम्बन किया गया है। सर्वत्र यह प्रयास किया गया है कि आचार्य विशेष के मत के विविध तत्वों की व्याख्या एवं विवेचन करके उससे प्राप्त निष्कर्षों के ठोस आधार पर उसकी दार्शनिक रुचि या मत का प्रकाशन किया जाए। कहीं भी यह कुप्रयास नहीं किया गया कि किसी मत विशेष को किसी आचार्य पर आरोपित कर दिया जाए। इस प्रकार सर्वत्र ही अनुगमन विधि के अनुसरण का प्रयास किया गया है।

भट्टनायक के मत के विषय में कुछ नवीन स्थापनाएँ की गई हैं। उनके मत का विस्तृत विवेचन करने पर यह स्पष्ट है कि उनके मत के लिए भुक्तिवाद नाम का प्रयोग असंगत है क्योंकि भुक्ति का सम्बन्ध रस की निष्पत्ति से नहीं, उसके भोग से है। निष्पत्ति के लिए तो रस के भावन का प्रयोग किया गया है

जो भावकत्व व्यापार का फल होना चाहिए। अतः उनके मत का नाम भाविति-वाद होना चाहिए।

अभी तक यह माना जाता रहा है कि भट्टनायक ने सामाजिक को ही रस का आश्रय माना है। किन्तु उन्होंने रस के भावन और रस के भोग का जैसा वर्णन किया है, स्वगत और परगत प्रतीति का जो खंडन किया है, तथा अभिव्यक्तिवाद पर जो आक्षेप किए हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि से भी रस का आश्रय नाट्य-स्थिति या काव्य ही है, सामाजिक नहीं।

साधारणीकरण की तीन व्याख्याएँ देखने में आती हैं—आलम्बन का साधारणीकरण, आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण और कवि की अनुभूति का साधारणीकरण। इन तीनों की समीक्षा करके यह दिखाया गया है कि साधारणीकरण विभावादि का होता है तथा उसका अर्थ पात्रों के वैशिष्ट्य का लोप ही समझना चाहिए।

इसके उपरान्त रस-गंगाधर में वर्णित नव्य मत तथा अन्य मतों की दार्शनिक-नैतिक दृष्टि से समीक्षा की गई है। नव्य मत में स्वीकृत भावना-दोष, एवं अनिर्वचनीय ख्याति की दार्शनिक पद्धति पर व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

रूप गोस्वामी द्वारा प्रतिष्ठित मधुर रस के दार्शनिक एवं सांप्रदायिक—अचिंत्यभेदाभेदवाद एवं लीला तत्त्व का विस्तृत विवेचन कर उसकी सीमाओं एवं अभावों का निर्देश किया गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि यह विवेचन काव्यशास्त्रीय विवेचन का स्थानापन्न नहीं हो सकता।

विविध मतों में प्रयुक्त अवधारणाओं की दार्शनिक व्याख्या के साथ-साथ उनके नैतिक पक्ष का भी उद्घाटन किया गया है। भारतीय चिन्तन-दृष्टि में दार्शनिकता एवं नैतिकता अभिन्न रूप से विकसित हुई है इसलिए यहाँ विविध दर्शनों के उपयोग में नैतिक दृष्टियों का उपयोग भी अन्तर्भूत ही है। औचित्य सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नैतिक है। उसका विवेचन करते हुए इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है तथा व्याख्या को पूर्णता प्रदान करने के लिए सम्बद्ध पाश्चात्य मतों का भी तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस समस्त विवेचन में दृष्टि काव्य के आनन्द की नैतिकता अनैतिकता पर ही केन्द्रित रही है। आजकल जो काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में आनन्द और नैतिक उत्कर्ष का विरोध लक्षित होता है उसकी असंगति का निर्देश करते हुए यह दिखाया गया है कि रस में आनन्द और नैतिकता दोनों तत्वों का समाहार हो जाता है—ये दोनों तत्व रस में अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। साथ ही यह मान्यता भी व्यक्त की

पुस्तक-सूची

(क) संस्कृत पुस्तकें

१. साहित्य-दर्पण —विश्वनाथ
(विमला हिन्दी व्याख्या सहित) —टीका, पंडित शालिग्राम शास्त्री

२. साहित्य-दर्पण —विश्वनाथ
(लक्ष्मी टीका युक्त) — टीका, कृष्णमोहन शास्त्री

३. ध्वन्यालोक —आनन्दवर्धन
(लोचन टीका) —टीका, अभिनवगुप्त

४. ध्वन्यालोक —आनन्दवर्धन
—हिन्दी व्याख्या—आचार्य विश्वेश्वर

५. नाट्यशास्त्र (भाग १) —भरतमुनि
टीका सहित —टीका, अभिनव गुप्त
(जी० ओ० एस० क्रमांक ३५)

६. रस-गंगाधर —पंडितराज जगन्नाथ
चन्द्रिका संस्कृत हिन्दी व्याख्या — संस्कृत व्याख्या—श्री बद्रीनाथ झा
—हिन्दी व्याख्याकार—मदनमोहन झा

७. काव्यप्रकाश —मम्मट
नगेश्वरी टीका सहित

८. काव्यप्रकाश —मम्मट
हिन्दी टीका —डा० सत्यव्रत सिंह

९. काव्यालंकार —भामह
१०. वक्रोक्तिजीवित —कुन्तक
११. तंत्रसार —अभिनवगुप्त
१२. गीता
१३. नीतिमंजरी —वादिदेव
१४. वेदान्त परिभाषा —धर्मराज दीक्षित
१५. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली —पंचानन विश्वनाथ
१६. महाभारत
१७. सांख्यकारिका
१८. वृहदारण्यकोपनिषद्
१९. तैत्तिरीयोपनिषद्
२०. प्रश्नोपनिषद्
२१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु —रूपगोस्वामी
२२. काव्यालंकार —भामह

(ख) हिन्दी पुस्तकें

१. चिन्तामणि (भाग १) —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२. काव्य और कला तथा अन्य निबंध —जयशंकर प्रसाद
३. रीतिकाव्य की भूमिका —डा० नगेन्द्र
४. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा —प्रधान सम्पादिका डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा
५. रस-गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन —डा० प्रेमस्वरूप गुप्ता
६. वैदिक संस्कृति का विकास —लक्ष्मण शास्त्री जोशी
—अनु० डा० दिनकर पराड़कर

(ग) अंग्रेजी पुस्तकें

१. इंडियन इस्थैटिक्स (भाग १) —डा० के० सी० पाण्डेय
२. क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म —संप० आर० एस० क्रेन
३. इस्थैटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म —हैरल्ड ओस्बोर्न
४. ए हिस्ट्री आफ इस्थैटिक्स —गिल्बर्ट एंड कुहन
५. दी प्रोबलम्स आफ इस्थैटिक्स —संप० एलिस्को वाईवस मरे क्रीगर

६. टुवर्ड्‌स मांईन्स इन इस्थैटिक्स —टॉमस मुनरो
७. ए मैनुअल आफ एथिक्स —जॉन एस० मेकेंजी
८. एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, (भाग २)
९. दी डिक्शनरी आफ फिलासफी —संप० डोगोबर्ट डी० इन्स
१०. ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी
११. फर्स्ट प्रिंसिपल्स —एच० स्पेन्सर
१२. फिलासफी फार दी मिल्यिन्स —जे० ए० मैकविल्यिम्स
१३. ऐन इन्ट्रोडक्शन टू लॉजिक —एच० डब्लू० बी० जोजफ